

नवराचना

NAVRACHNA

एक विशेषज्ञ समीक्षित समाजशास्त्रीय शोध पत्रिका

वर्ष 4, अंक 1&2, जून-दिस. 2018

A GREFI PUBLICATION

नवरचना NAVRACHNA

वर्ष 3, अंक 1&2, जून-दिस. 2017

सम्पादक

प्रोफेसर वी. पी. सिंह

सह-सम्पादक

प्रोफेसर राजेश मिश्र
प्रोफेसर प्रहलाद मिश्र
प्रोफेसर अरविन्द चौहान
प्रोफेसर परवेज अहमद अब्बासी

प्रबन्ध सम्पादक

डा. पंकज कुमार सिंह
डा. श्रीपाल चौहान
डा. राजाराम सिंह
डा. मन्जू गोयल

पुस्तक-समीक्षा सम्पादक

प्रीति तिवारी

हिन्दी भाषा सम्पादक

डा. सूर्य नारायण सिंह
डा. रचना रंजन

प्रो. सत्यपाल सिंह
डा. सुप्रिया सिंह

सम्पादकीय सलाहकार परिषद

प्रो. योगेन्द्र सिंह, दिल्ली
प्रो. हरीश दोषी, सूरत
प्रो. सुरजन सिंह शर्मा, साहिबाबाद
प्रो. जैनेन्द्र कुमार दोषी, उदयपुर
प्रो. आनन्द कुमार, दिल्ली
प्रो. नीना रोजी केलहन, अमृतसर
प्रो. रणविन्दर सिंह सन्धू, अमृतसर
प्रो. कामेश्वर चौधरी, लखनऊ
प्रो. चारुलता सिंह, दिल्ली
प्रो. रघुनन्दन शर्मा, पटना
प्रो. आभा चौहान, जम्मू
प्रो. राजेश गिल, चन्डीगढ़.
प्रो. अनीसा शफी, श्रीनगर
प्रो. ज्ञान प्रकाश पांडे, शिलचर
प्रो. दिवाकर सिंह राजपूत, सागर
प्रो. मौहम्मद सलीम, वाराणसी
प्रो. जगदीश कुमार पुण्डीर, मेरठ
प्रो. प्रदीप सिंह चूडावत, बडोदरा
प्रो. ए. पी. सिंह, वाराणसी
प्रो. खजान सिंह सांगवान, रोहतक

प्रो. ज्वाला प्रसाद पचौरी, श्रीनगर
प्रो. कमला गणेश, मुंबई
प्रो. माधव गोविन्द, दिल्ली
प्रो. आर. जी. सिंह, भोपाल
प्रो. आर. डी. मोर्य, महु
प्रो. विपुल सोमानी, सूरत
प्रो. जे. सी. पटेल, अहमदाबाद
प्रो. जय प्रकाश त्रिवेदी, आनन्द
प्रो. हेमीक्षा राव, राजकोट
प्रो. जे. पी. सिंह, पटना
प्रो. भगवान सिंह विष्ट, नैनीताल
प्रो. मनजीत चतुर्वेदी, वाराणसी
प्रो. रवि प्रकाश पांडे, वाराणसी
प्रो. तेज मल दक, उदयपुर
प्रो. सतीश कुमार शर्मा, चन्डीगढ़
प्रो. रश्मि जैन, जयपुर
प्रो. अनिल भार्गव, जयपुर
प्रो. मनीष कुमार वर्मा, लखनऊ
डा. भगवती प्रसाद बडोला, धर्मशाला
डा. दिवाकर सिंह राजपूत, सागर

डा. विनीता सिंह, रांची
डा. स्मिता सुरेश अवाचार, ओरंगाबाद
डा. पद्मा रानी, मणिपाल
डा. आशुतोष व्यास, चित्तौड़गढ़
डा. राज कुमार कायस्थ, शिमला
डा. नीना रोजी केलहन, अमृतसर
डा. मौ. अकरम, अलीगढ़.
डा. वाई. एस. भदौरिया, लखनऊ
डा. विशेष कुमार गुप्ता, मुरादाबाद
डा. श्रुति सिंह, दिल्ली
डा. रविन्द्र बंसल, बरेली
डा. महेश शुक्ला, रीवा
डा. मनु गौराहा, उज्जैन
डा. लता कुमार, मेरठ
डा. मानवेन्द्र प्रताप सिंह, गोरखपुर
डा. अय्यूब खान, ग्वालियर
डा. आशीष सक्सेना, इलाहाबाद
डा. इति तिवारी, इलाहाबाद
डा. प्रमोद कुमार शर्मा, रायपुर
डा. सर्वेश दत्त त्रिपाठी, दिल्ली

ISSN No. 2454-2458

@NAVRACHNA

www.grefiglobal.org

नवरचना NAVRACHNA

एक विशेषज्ञ समीक्षित समाजशास्त्रीय शोध पत्रिका

ISSN NO. 2454-2458

वर्ष 4

अंक 1&2

2018

अनुक्रमणिका

शोध लेख

आदर्श समाज की परिकल्पना : भारतीय समाज के विशेष संदर्भ में रामगोपाल सिंह'	3
वैश्वीकरण एवं राष्ट्र राज्य सुभाष शुक्ला	20
आर.के. नारायण के उपन्यासों में सशक्त और निर्बल स्त्री प्रीति तिवारी	26
आर्थिक विकास और पर्यावरण संरक्षण स्वीटी जैन	39
आधुनिक जनसंचार माध्यमों का विद्यालयीन शिक्षा पर प्रभाव रेनू वर्मा	43
महिला एवं विकास: अवधारणात्मक परिवर्तन छाया	48
वैश्विक रूपान्तरण : अवधारणात्मक प्रारूप वीरेन्द्र पाल सिंह	52

आई.एस.एस.एन. संख्या : 2454-2458

नवरचना NAVRACHNA

www.grefiglobal.org/journals/navrachna.2018

वर्ष 4, अंक 1-2, जून-दिसम्बर 2018, पृ. 3-18

आदर्श समाज की परिकल्पना : भारतीय समाज के विशेष संदर्भ में

रामगोपाल सिंह*

मोटे तौर पर कहा जा सकता है कि जो हम हैं, वह यथार्थ है और जो हम हैं तो नहीं लेकिन होना चाहते हैं, वह आदर्श है। इससे एक आशय तो यह निकलता है कि आदर्श यथार्थ से उत्कृष्ट है, और यदि हम किसी विशेष संदर्भ में आदर्श की बात करते हैं, तो इससे दूसरा आशय यह निकलता है कि उस संदर्भ में हम यथार्थ से संतुष्ट नहीं हैं। वैसे देखा जाए तो हम यथार्थ या वर्तमान से बहुत सी बातों में या वर्तमान की बहुत सी वस्तुओं से संतुष्ट नहीं होते हैं और उनमें उत्कृष्ट या आदर्श स्थिति की प्राप्ति की आकांक्षा रखते हैं और इसके लिए सामान्यतः प्रयास भी करते हैं। किंतु अगर यह देखा जाए कि इनमें वह कौन सी बात या कौन सी वस्तु है जो सार्वकालिक व सार्वभौमिक रूप से आदर्श के रूप में आकांक्षित रहती है, आज भी आकांक्षित है और आगे भी आकांक्षित रहेगी, तो वह है आदर्श समाज या अपने सपनों का समाज। यह आदर्श समाज निश्चित रूप से उस समाज से उत्कृष्ट होता है जिसमें हम रह रहे होते हैं।

आदर्श समाज की आकांक्षा सार्वभौमिक व सार्वकालिक रूप से सर्वाधिक इसलिये होती है क्योंकि समाज मानव जीवन का मूल है। क्योंकि समाज मानव जीवन का आधार है। समाज है तो हम हैं। समाज में हम पैदा होते हैं, समाज में जीते हैं और समाज में ही मरते हैं। समाज हमारा जीवन है। समाज हमारा सब कुछ है। समाज न होता तो न धर्म होता, न संस्कृति होती, न राज्य होता, न शासनतंत्रा होता, न विज्ञान होता और न ही तकनीकी प्रगति होती, न झोपड़ी होती, न महल होता, न बैलगाड़ी होती और न ही जेट विमान होता। समाज के अभाव में हमारे लिए उन्नति व विकास के सपने देखना तो दूर, जीवित रह पाना मुश्किल होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि मानव जीवन में अन्य सभी चीजों की तुलना में समाज की भूमिका सबसे अहम है। अभी तक हम जैसे थे, समाज की वजह से थे। आज हम जैसे हैं, समाज की वजह से हैं। अगर हमारा समाज उन्नत है तो हम उन्नत हैं। अगर हमारा समाज अवनत है तो हम अवनत हैं। हम अंडमान निकोबार या अबूझमाड़ में न्यूटन,

*अवकाश प्राप्त प्राध्यापक, बाबासाहेब अम्बेडकर सामाजिक विज्ञान संस्थान, महु, म.प्र.

आइस्टीन, जेम्सवाट, फ़ैराडे या बुद्ध, विवेकानंद अथवा कौटिल्य या कार्लमार्क्स की कल्पना नहीं कर सकते।

जब हम यह कहते हैं कि आदर्श समाज की खोज एक सार्वभौमिक व सार्वकालिक प्रक्रिया है जो आदिकाल से अब तक सतत जारी है और आगे भी जारी रहेगी तो कोई भी यह सवाल उठा सकता है कि क्या आदिकाल से लेकर अब तक आदर्श समाज दुनिया को मिला ही नहीं जो उसकी खोज अब तक जारी है। और अगर नहीं मिला तो फिर क्या दुनिया को इतनी अक्ल नहीं है कि ऐसी वस्तु की खोज को वह आगे जारी क्यों रखे? इसके जवाब में एक तो यह कहा जा सकता है कि समय और परिस्थिति में बदलाव से लोगों की अपेक्षाओं और आदर्श की संकल्पना में बदलाव आता है और दूसरे यह कि जब किसी अपेक्षित आदर्श को प्राप्त कर लिया जाता है तो अक्सर उसे लम्बे समय तक आदर्श के रूप में बनाये रख पाना संभव नहीं होता, क्योंकि समाज का जो वर्ग समाज को आदर्श बनाने में मुख्य भूमिका निभाता है, समाज के आदर्श बनने के बाद समाज की सत्ता पर उसकी पकड़ मजबूत हो जाती है, जो अक्सर लम्बे समय तक बनी रहती है। लम्बे समय तक सत्ता में बने रहने से समाज में संप्रभु वर्ग का सत्ता में निहित स्वार्थ जुड़ जाता है। ऐसे में सत्ता पर अपनी पकड़ के आधार पर वह ऐसे विधान और वैचारिकी का विकास करता है और उसे लोगों पर थोपता है जिससे सत्ता पर उसकी पकड़ इतनी मजबूत हो जाए कि समाज के भीतर से उसके विरुद्ध चुनौती की कोई गुंजाइश नहीं रहे। निहित स्वार्थों के वशीभूत हो संप्रभुवर्ग द्वारा लागू की गई अन्याय व भेदभावपूर्ण विधान व वैचारिकी के चलते समाज में अन्याय व भेदभाव का विकास होता है जिससे समाज की एकता कमजोर होती है और समाज का विकास अवरुद्ध हो जाता है। ऐसे में अन्यायपूर्ण व्यवस्था के विरुद्ध समाज में आंतरिक प्रतिरोध जागृत होता है जो धीरे-धीरे संगठित व उग्र होता जाता है। परिणामस्वरूप, समाज के संप्रभु वर्ग द्वारा थोपी गई अन्याय व भेदभावपूर्ण व्यवस्था की जगह एक भेदभावरहित न्याय, एकता व विकासपरक आदर्श समाज व्यवस्था की स्थापना के लिए संघर्ष पुनः शुरु हो जाता है। भारतीय समाज कोई इसका अपवाद नहीं है। वैदिक काल से लेकर अब तक उसकी आदर्शात्मकता में उतार-चढ़ाव आते रहे हैं और यह प्रक्रिया अभी भी जारी है और आगे भी जारी रहेगी। मोटे तौर पर कहा जा सकता है कि आज के भारतीय संदर्भ में आदर्श समाज की एक सार्थक व प्रभावी परिकल्पना क्या हो सकती है, से सम्बन्धित अध्ययन की यह पहल, वस्तुतः आदर्श समाज की खोज सम्बन्धी चलने वाली सतत प्रक्रिया के तहत एक प्रयास है।

आदर्श समाज एवं आदर्श सामाजिक संरचना

कोई समाज कैसा है यह इस बात पर निर्भर करता है कि उसकी संरचना कैसी है। अगर किसी समाज की संरचना आदर्श है तो वह समाज आदर्श होगा। आदर्श सामाजिक संरचना वस्तुतः एक द्विआयामी अवधारणा है। जिसमें एक वैयक्तिक आयाम है और दूसरा सामाजिक। ऐसे में किसी संरचना के आदर्श होने के लिए उसका इन दोनों ही आयामों पर आदर्श होना जरूरी है। दूसरे शब्दों में, किसी संरचना के आदर्श होने के लिए उसका वैयक्तिक एवं सामाजिक दोनों दृष्टियों से आदर्श होना जरूरी है। व्यक्ति की दृष्टि से संरचना के आदर्श होने का अर्थ है कि वह व्यक्ति की स्वतंत्रता, वैयक्तिकता एवं गरिमा तथा हितों की रक्षा करती हो और उसे विकास के अवसर एवं न्याय की प्रत्याभूति प्रदान करती हो। सामाजिक दृष्टि से किसी संरचना के आदर्श होने का अर्थ है कि वह समाज की एकता व संगठन को सुदृढ़ करती हो, उसकी निरंतरता बनाए रखती हो तथा उसके

विकास को बढ़ावा देती हो। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि सामाजिक दृष्टि से एक आदर्श संरचना ऐसे सिद्धांतों पर आधारित एवं ऐसी विशेषताओं से सम्पन्न होती है जिनसे समाज की निर्मायक इकाइयों के बीच सम्बन्धों में सौहार्द, सामंजस्य और साहचर्य को बढ़ावा मिलता है, समाज की एकता मजबूत होती है और उसकी प्रगति का मार्ग प्रशस्त होता है (सिंह, 2018अ:11)।

आदर्श समाज की कसौटियाँ

किसी समाज के आदर्श होने अर्थात् उसकी संरचना के आदर्श होने के लिए उसमें अर्थात् उसकी संरचना में किन्हीं विशेषताओं का पाया जाना आवश्यक होता है। ये विशेषतायें उसके आदर्श होने की पहचान होती है। इन्हें आदर्श समाज की अथवा आदर्श समाज के संरचना की कसौटियाँ कहा जाता है। इन्हें प्राथमिक (या मूलभूत) तथा द्वितीयक (या विशिष्ट) कसौटियों के रूप में दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है।

प्राथमिक कसौटियों के अंतर्गत संरचना की वे विशेषतायें सम्मिलित होती हैं जो उसके आदर्श होने के लिए अपरिहार्य होती है। ये विशेषतायें वस्तुतः वे बुनियादी सिद्धांत हैं जिन पर आदर्श समाज का ढांचा बनाया गया होता है। इसके अंतर्गत संरचना की तीन विशेषतायें सम्मिलित होती हैं। जिनमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण विशेषता अर्थात् आदर्श संरचना की पहली मूलभूत कसौटी संरचना का न्यायपरक होना है। कोई संरचना न्यायपरक तभी होती है जबकि उसका ताना-बाना न्याय के सिद्धांत पर बनाया गया होता है। दरअसल, न्याय आदर्श समाज और उसकी संरचना की बुनियाद है। न्याय के अभाव में कोई समाज लम्बे समय तक बना नहीं रह सकता। देर-सबेर उसका विनिष्ट होना निश्चित है। ऐसे में कोई विनाशोन्मुखी समाज अपना अस्तित्व तब तक नहीं बचा सकता जब तक कि उसमें न्याय की पुनर्स्थापना नहीं हो जाती। किसी समाज में न्याय की पुनर्स्थापना आन्तरिक प्रतिरोध के माध्यम से हो सकती है अथवा बाह्य हस्तक्षेप से हो सकती है। लेकिन अगर ऐसा नहीं होता है तो समाज को बचा पाना संभव नहीं होता।

आदर्श संरचना की दूसरी मूलभूत कसौटी उसका नैतिकतापरक होना है अर्थात् नैतिकता के सिद्धांत पर आधारित होना है। व्यापक अर्थ में, नैतिकता न्याय का तर्क, बुद्धि एवं विवेकपरक मानवीय पक्ष है। संरचना के नैतिक नियमों पर आधारित होने से आशय यह है कि उसका ढांचा तर्क, बुद्धि एवं विवेकपरक नैतिक नियमों के आधार पर बनाया गया होता है। आदर्श संरचना की तीसरी आधारभूत कसौटी उसका नवोन्मेषी होना है। नवोन्मेषिता से आशय कुछ नया खोजने, कुछ नया करने की उत्कंठा तथा नई चीजों को अपनाने और अपने को बेहतर बनने की चाहत का होना है। नवोन्मेषिता एक प्रवृत्ति है जो व्यक्ति व समाज को आगे की ओर देखने, आगे बढ़ने और विकास करने के लिए प्रेरित करती है। अगर संरचना नवोन्मेषी है अर्थात् नवीनता उत्प्रेरक है तो वह समाज को विकासोन्मुखी बनाती है। उसमें विकास की प्रक्रिया को उत्प्रेरित करती है और विकास समाज की प्रगति के लिए ही नहीं बल्कि उसके अस्तित्व व निरंतरता को बनाये रखने की दृष्टि से भी जरूरी होता है क्योंकि विकास के अभाव में संरचना चाहे वह कितनी ही सुदृढ़ क्यों न हो, गतिहीनता का शिकार हो अपक्षयित हो जाती है। परिणामस्वरूप, कालांतर में समाज अवनति व पतन को प्राप्त होता है। अतः संरचना के आदर्श होने के लिए उसके न्याय व नैतिकतापरक होने के साथ नवोन्मेषी होना भी जरूरी है। संरचना के नवोन्मेषी होने के लिए उसे वैचारिक आधार एवं तार्किक औचित्य प्रदान करने वाली वैचारिकी का नवोन्मेषी अर्थात् सिद्धान्तावेषी और प्रगतिगामी होना जरूरी है। अगर

वैचारिकी सिद्धांत की जगह नियमबद्धता पर जोर देने वाली यथास्थितिवादी है तो संरचना के गतिहीनता ग्रस्त हो अपक्षयित व अवनत होने की संभावना अधिक होती है।

आदर्श संरचना की द्वितीयक या विशिष्ट कसौटियों के अंतर्गत संरचना की उन विशेषताओं को सम्मिलित किया जाता है जो संरचना को विशेषतया व्यावहारिक रूप से आदर्श बनाने में सहायक होती हैं किन्तु ये प्राथमिक या मूलभूत कसौटियों की विशेषताओं की भांति अपरिहार्य नहीं होतीं। दूसरे शब्दों में, ये विशेषतायें व्यावहारिक धरातल पर किसी संरचना व तत्सम्बन्धी समाज को उन्नत व आदर्श बनाने में सहायक तो होती हैं किन्तु अपरिहार्य नहीं होतीं। व्यापक अर्थ में आदर्श संरचना की द्वितीयक कसौटी के अंतर्गत आने वाली विशेषतायें उसके प्राथमिक कसौटी के अंतर्गत आने वाली विशेषताओं की विस्तार हैं और ये उन्हें सशक्त व प्रभावी बनाने में सहायक होती हैं। आदर्श संरचना की द्वितीयक कसौटी के अंतर्गत संरचना की जिन सात विशेषताओं को सम्मिलित किया जाता है, वे ये हैं: (1) आदर्श संरचना के घटक भाग संगतिपूर्ण व सहगामी होते हैं। दरअसल, संरचना के भागों के बीच अनुरूपता एवं संगति का पाया जाना समाज को सशक्त व उन्नत बनाने के लिये आवश्यक होता है। इसी प्रकार उनका सहगामी होना भी आवश्यक होता है क्योंकि अगर संरचना के अंगों के बीच संगति नहीं है और वे एक दूसरे के सहगामी न होकर प्रतिगामी हुये तो संरचना के लिये विकास की बात तो दूर अपना अस्तित्व बचाना मुश्किल हो जाता है। उदाहरण के तौर पर मान लीजिये कि किसी समाज की संरचना वेदान्त या बौद्ध वैचारिकी पर आधारित उदारवादी है किन्तु उसकी राजनीतिक उपसंरचना अधिनायकवादी या कट्टरपंथी है तो समाज की उन्नति होना नहीं अपितु अवनति होना निश्चित है।

(2) आदर्श संरचना की दूसरी, द्वितीयक कसौटीगत विशेषता यह है कि वह समाज में एकता व विकास को बढ़ावा देती है। दरअसल, एकता व विकास आदर्श संरचना के आवश्यक गुण हैं। एकता जहाँ समाज को मजबूत बनाती है वहीं विकास को बढ़ावा देती है। एकता के अभाव में समाज कमजोर होता है और एक कमजोर समाज के पतन व पराभव की संभावना बढ़ जाती है। एक सामान्य कहावत है कि जहाँ एकता होती है वहाँ से दासता दूर भागती है और जहाँ एकता का अभाव होता है वहाँ दासता का वास होता है। एकता के साथ विकास भी आदर्श संरचना का एक आवश्यक गुण है क्योंकि, जैसा कि पूर्व में कहा गया है कि किसी संरचना के आदर्श होने के लिये उसका व्यक्ति व समाज की अपेक्षाओं पर खरा उतरना जरूरी होता है, जो विकास के बिना मुश्किल है।

(3) आदर्श संरचना की द्वितीयक कसौटी सम्बन्धी तीसरी विशेषता उसका बहिर्मुखी होना है। दरअसल, बहिर्मुखता की प्रकृति विस्तारमुखी होती है जिससे यह लोगों को एक-दूसरे से विशेष रूप से बाहर के लोगों से जुड़ने के लिये प्रेरित करती है। इससे लोगों को बाहर की अच्छाइयों को जानने, उन्हें अपनाने और अपने को अच्छा, उन्नत व मजबूत बनाने का मौका मिलता है। साथ ही, इससे उन्हें बाहर के लोगों को आकने, उनके साथ अपना तालमेल बिठाने तथा उनसे यदि आगे नहीं निकल सके तो कम से कम बराबरी में चल पाने की चुनौती मिलती है। कहने का तात्पर्य यह है कि बहिर्मुखता से व्यक्ति को दूसरों से आगे निकलने और सतत आगे बढ़ने की प्रेरणा प्राप्त होती है और वह प्रगति व विकास की ओर अग्रसर होता है और जब व्यक्ति प्रगति व विकास की ओर अग्रसर होते हैं तो समाज भी प्रगति व विकास की ओर अग्रसर होता है।

(4) आदर्श संरचना खुली व पारगम्य होती है। खुलापन व पारगम्यता व्यक्ति व समाज को प्रगति व विकास के लिये निर्बाध अवसर प्रदान करते हैं जिससे उनकी उन्नति का मार्ग प्रशस्त होता है। इसके बरक्स बन्धन व अपारगम्यता व्यक्ति व समाज की प्रगति व विकास की प्रक्रिया को अवरुद्ध करते हैं। प्रगति व विकास के अवरुद्ध होने से समाज कमजोर व अवनत होता है।

(5) आदर्श संरचना की द्वितीयक कसौटी के तहत पाँचवीं विशेषता यह है कि वह समाज में निर्बाध आदान-प्रदान को बढ़ावा देती है। दरअसल, मुक्तता एवं निर्बाध आदान-प्रदान की स्वतंत्रता आधुनिकता एवं प्रगति की निशानी हैं क्योंकि इनके चलते लोगों को स्वतंत्र निर्णय लेने और पहल करने की पूरी आजादी होती है, जिससे वे बढ़-चढ़ कर प्रयास करते हैं, आगे बढ़ते हैं और इस प्रकार अपने साथ समाज को उन्नति के ऊँचे मुकाम तक ले जाने में कामयाब होते हैं। इसके बरक्स बन्धन व सीमार्ये लोगों की पहल करने की क्षमता को कुण्ठित करती हैं जिससे व्यक्ति व समाज का विकास अवरुद्ध होता है। परिणामस्वरूप, समाज पतन व पराभव को प्राप्त होता है।

(6) आदर्श संरचना की छठी द्वितीयक कसौटीगत विशेषता यह है कि वह ग्रहणशील व निरसनशील होती है। ग्रहणशीलता व निरसनशीलता आदर्श संरचना की एक अप्रतिम विशेषता है। ग्रहणशीलता संरचना का वह गुण है जिसके चलते वह बाहर की ऐसी विशेषताओं, जो उसे बनाये रखने, सशक्त करने तथा विकास करने में सहायक हों, को आसानी से ग्रहण कर लेती है। इसी प्रकार, निरसनशीलता भी आदर्श संरचना का एक महत्वपूर्ण गुण है जिसके चलते संरचना को ऐसी विशेषताओं, जो समय के साथ उसे बनाये रखने और आगे की ओर ले जाने में उपयोगी नहीं रह जाती हैं, को निरसित करने में कोई कठिनाई नहीं होती।

(7) आदर्श संरचना का सार्वकेन्द्रित होना उसकी सातवीं द्वितीयक विशेषता निरूपित की जा सकती है। सार्वकेन्द्रितता आदर्श संरचना की एक अन्य महत्वपूर्ण विशेषता है क्योंकि सार्वकेन्द्रितता विस्तार को बढ़ावा देती है और विस्तार सामूहिकता, साहचर्य एवं विकास को बढ़ावा देता है। सामूहिकता व साहचर्य सामाजिक संगठन एवं एकता को मजबूत करते हैं और एकता सामाजिक प्रगति एवं विकास को बढ़ावा देती है। अतः सामाजिक संगठन को मजबूत करने एवं सामाजिक विकास को बढ़ावा देने में सहायक होने की वजह से सार्वकेन्द्रितता को आदर्श संरचना की एक महत्वपूर्ण विशेषता निरूपित किया जा सकता है।

आदर्श संरचना के रेखांकन में ध्यान में रखी जाने वाली बातें

आदर्श सामाजिक संरचना की कसौटियों के निर्धारण के बाद अगला कार्य उसकी संकल्पना को रेखांकित करना रहता है। ऐसा करते समय अगर कुछ बातों को ध्यान में रखा जाता है और रेखांकन में उनके प्रति सावधानी बरती जाती है तो आदर्श समाज की संरचना के परिकल्पित स्वरूप में त्रुटियाँ नहीं होने के प्रति आश्वस्त हुआ जा सकता है। इन बातों में एक तो यह कि ऐसी संरचना को आकार दिया जाए जो आदर्श संरचना की कसौटियों पर खरी उतरती हो। दूसरी यह कि आदर्श भारतीय समाज का संरचनात्मक स्वरूप ऐसा हो जिसमें वे कमियाँ न हों जिनकी वजह से अतीत में बौद्धिक व बौद्धिककालीन सशक्त व उन्नत आदर्श भारतीय समाज आगे चलकर पतन व पराभव को प्राप्त हुआ। तीसरी यह कि इस आदर्श संरचनात्मक प्रारूप में वे कमजोरियाँ नहीं हों जिनकी वजह से स्वतंत्रोपरांत संविधानगत संरचना के तहत गठित भारतीय समाज विगत लगभग सत्तर वर्षों के

प्रयासों के बावजूद एक संगठित, एकता व विकासपरक सशक्त व उन्नत आदर्श समाज नहीं बन पा रहा है और न ही उसके ऐसा बनने की दूर-दूर तक कोई संभावना दिखाई देती है।

आदर्श भारतीय सामाजिक संरचना के रेखांकन में, जैसा कि ऊपर कहा गया है, सबसे पहले और सबसे अधिक ध्यान इस बात पर रखा जाता है कि संरचना ऐसी हो जो आदर्श समाज की प्राथमिक एवं द्वितीयक कसौटियों से सम्बन्धित विशेषताओं पर पूरी तरह खरी उतरे। इस सम्बन्ध में बरती जाने वाली दूसरे प्रकार की सावधानी का जहाँ तक प्रश्न है उसके विषय में कहा जा सकता है कि अतीत में भारतीय समाज के पतन विशेष रूप से पराभव के मूल कारण आंतरिक हैं क्योंकि कोई समाज जब तक आंतरिक रूप से कमजोर नहीं होता है तब तक कोई बाह्य समाज उस पर अपना आधिपत्य कायम नहीं कर पाता है। और कोई समाज आंतरिक रूप से कमजोर आंतरिक कारणों से ही होता है (सिंह, 2017 अ)। अतीत में वैदिक एवं बौद्ध काल में भारतीय समाज जब आंतरिक रूप से मजबूत था तब वह सशक्त, समृद्ध व उन्नत ही नहीं अपितु विश्व में अग्रणी भी था। किन्तु स्मृतिकाल में जब वह आंतरिक कारणों विशेष रूप से अन्याय व भेदभावपरक विधान एवं अन्याय व भेदभावपरक सामाजिक संरचना की वजह से आंतरिक रूप से कमजोर हो गया तो न केवल पराभूत हुआ बल्कि लम्बे समय तक पराधीनता का संत्रास झेलने को विवश हुआ (सिंह, 2017 ब: 7-23)।

अतीत में भारतीय समाज के पतन व पराभव के आंतरिक कारणों में सांसारिकता से विरक्ति, विशेष रूप से अतिशय असांसारिकता, आत्मकेन्द्रितता, परंपरावादिता पर जोर, सोच एवं कार्यक्षेत्र का संकीर्ण होना, विस्तारपन की प्रवृत्ति का अभाव एवं संस्कृति का आध्यात्मिकता की ओर अधिक झुकाव तथा वृहद सांगठनिकता व नवीनता की चाह एवं गमनागमन व आदान-प्रदान में खुलेपन का अभाव और सामाजिक संरचना का अन्याय व भेदभावपरक होना आदि प्रमुख हैं (सिंह, 2017 अ:3-17)। जहाँ तक वर्तमान में इन कारणों की भारतीय समाज में प्रभाविकता का सवाल है, अगर यह कहा जाए कि संप्रति आधुनिक शिक्षा के प्रसार, विज्ञान व तकनालॉजी के विकास एवं सूचना प्रौद्योगिकी में क्रांतिकारी परिवर्तन तथा औद्योगीकरण, आधुनिकीकरण एवं वैश्वीकरण की प्रक्रियाओं के बढ़ते प्रभाव आदि के चलते ये कारण शनैः-शनैः शिथिल पड़ते जा रहे हैं तो कदाचित गलत नहीं होगा। अतः इस संदर्भ में आदर्श संरचना के रेखांकन में महत्वपूर्ण बात जिस पर ध्यान दिये जाने की जरूरत है वह यह है कि आदर्श संरचना में न तो स्मृतिकालीन शास्त्रागत संरचना के और न ही अन्य किसी प्रकार के कोई अन्याय व भेदभावपरक तत्व सम्मिलित हों।

आदर्श संरचना के निरूपण में बरती जाने वाली तीसरी सावधानी के तहत जहाँ तक क्षेत्रवाद, भाषावाद, भ्रष्टाचार, राजनीतिक तुष्टिकरण, राजनीति में वंशवाद, गिरोहवाद एवं अपराधिक तत्वों का बढ़ता प्रभाव, नौकरशाही एवं प्रशासनतंत्र की धीमी कार्य प्रगति तथा जिम्मेदारी से बचने की प्रवृत्ति आदि कमजोरियों, बहुत कुछ जिनकी वजह से संविधानगत संरचना के तहत भारतीय समाज विगत लगभग सत्तर सालों से सतत प्रयास करने के बावजूद अपेक्षानुरूप सशक्त व उन्नत नहीं हो पा रहा है, से बचने का सवाल है, इस सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि ये कमजोरियाँ ऐसी नहीं हैं जिन्हें प्रशासन के स्तर पर दूर नहीं किया जा सकता है। समय के साथ राजनीति, कानून एवं प्रशासन के क्षेत्रों में लाये गये सुधारों के माध्यम से इन कमजोरियों को किसी हद तक दूर किया गया है और जो रह गई है उन्हें यदि पूरी ईमानदारी व प्रतिबद्धता के साथ प्रयास किया जाता है तो दूर कर पाना मुश्किल नहीं होगा। वैसे इन समस्याओं के त्वरित निराकरण को ध्यान में रखते हुये आदर्श संरचना

की परिकल्पना के तहत संसदीय शासन प्रणाली की जगह एक अधिक मजबूत, सक्षम व प्रभावी शासन प्रणाली को रखे जाने पर विचार किया जा सकता है।

संरचनात्मक विकल्प की पहल

खासतौर पर स्मृतिकाल के दौर में शास्त्रकारों ने संवर्गीय स्वार्थ के वशीभूत होकर अन्याय व भेदभाव पर आधारित वर्णाश्रम धर्म, कर्म और पुनर्जन्म सम्बन्धी वैचारिकी के संरक्षण में शास्त्रीय विधानों की रचना के माध्यम से जातिपरक शास्त्रागत संरचना का ऐसा करिश्माई जाल बिछा रखा था जिसे स्वतंत्रताोपरांत संविधान के माध्यम से एक झटके में तोड़कर उसकी जगह एक न्याय, एकता व विकासपरक आदर्श संरचना का ढाँचा खड़ा कर पाना संभव नहीं था क्योंकि जाति व धर्म, विशेष रूप से हिन्दू धर्म का ब्राह्मणिक संस्करण, जैसी मजबूत शक्तियाँ इनकी रक्षा कर रही थीं जो जहाँ अत्यधिक ताकतवर थीं वहीं उनकी जड़ें समाज में इतनी गहरी पैठी हुई थीं कि वहाँ से उन्हें उखाड़ फेंकना बहुत कुछ नामुमकिन था। इसके अलावा एक अन्य मुश्किल यह थी कि जिस सामग्री से आदर्श संरचना को बुना जाना था उसका महिला, शूद्र, अतिशूद्र सहित लगभग पचहत्तर प्रतिशत भाग को शास्त्रीय विधानों के तहत अपंग बनाकर बेकार कर दिया गया था और लगभग आठ-नौ प्रतिशत जनजातीय समाज को मुख्यधारा से जुड़ने का अवसर न प्रदान कर आधुनिक जरूरतों के संदर्भ में बहुत कुछ अनुपयोगी बना दिया गया था। अतः स्वतंत्रताोपरांत इन अस्सी, पच्चासी फीसदी जर्जर ईंटों से आदर्श समाज रूपी महल खड़ा कर पाना संभव नहीं था।

आदर्श संरचना को जिन ईंटों पर खड़ा किया जाना था अगर वे जर्जर हो गई थीं तो उसे खड़ा करने के पहले उनकी मरम्मत कर उन्हें उपयोगी स्वरूप प्रदान करना जरूरी था। किन्तु यह कार्य न्याय, नैतिकता व नवोन्मेषिता के सिद्धांतों, जो आदर्श संरचना की आवश्यक पूर्व दशा हैं, को उनके मूल रूप में लागू करते हुये पूरा कर पाना संभव नहीं था। लिहाजा, सिद्धांत रूप में सामाजिक न्याय एवं नागरिक भेदभाव की नीति के तहत जब तक समाज के इन जर्जर भागों को विशेष संरक्षण व सुविधा प्रदान कर उपयोग के लायक सशक्त नहीं कर दिया जाता तब तक संविधानगत संरचना के तहत आदर्श संरचना के इन बुनियादी सिद्धांतों को शिथिल किया जाना जरूरी था। जिसे ध्यान में रखते हुये समाज में इन वर्गों को समान नागरिक अधिकार के साथ विशेष संरक्षण एवं सुरक्षोपाय प्रदान किये गये। ऐसे में यह सवाल बहुत प्रासंगिक हो जाता है कि क्या विगत लगभग सत्तर सालों में संविधानगत संरचना संविधानगत लक्ष्यों को प्राप्त कर सकी है और यदि नहीं तो क्या निकट भविष्य में इसकी कोई संभावना है। इस सम्बन्ध में विगत लगभग सत्तर सालों के अनुभवों से तो बहुत कुछ यही पता चलता है कि संविधानगत संरचना न तो शास्त्रागत संरचना सम्बन्धी विसंगतियों मुख्यतया जिनकी वजह से अतीत में भारतीय समाज पतन व पराभव को प्राप्त हुआ को पूरी तौर पर दूर कर पाई है और न ही निकट भविष्य में ऐसा कर पायेगी, इसकी कोई संभावना है (सिंह, 2017 दः 3-9)। ऐसी स्थिति में इसके विकल्प के रूप में एक स्वतंत्रता, समानता, न्याय, एकता व विकासपरक सशक्त व उन्नत आदर्श सामाजिक संरचना के लिये पहल करना आवश्यक हो जाता है। किन्तु इस सम्बन्ध में जैसा कि पूर्व में कहा गया है कि अन्याय व भेदभाव पर आधारित वर्णाश्रम, धर्म, कर्म एवं पुनर्जन्म सम्बन्धी वैचारिकी एवं शास्त्रीय विधानों के तहत आरोपित जाति व धर्म सम्बन्धी अवरोधों, जिनसे संविधानगत संरचना अभी तक पार नहीं पा सकी है, को दूर करने के लिये आदर्श संरचना के तहत निश्चित रूप से अत्यधिक कठोर कदम उठाने होंगे। क्योंकि ऐसा नहीं करने पर जाति का

उन्मूलन संभव नहीं है और जाति के चलते सामाजिक न्याय एवं नागरिक भेदभाव की नीति के तहत बरती गई शिथिलता यदि अनवरत चलती रही है तो बहुत संभव है कि इसकी परिणति भी बहुत कुछ शास्त्रागत जातिपरक संरचना के दौर की भांति भारतीय समाज के पतन व पराभव में ही हो।

भारतीय संदर्भ में चूंकि जाति और धर्म, स्वतंत्रता, समानता, न्याय व एकतापरक, मुक्त व पारगम्य सामाजिक संरचना की स्थापना के मार्ग में अत्यधिक सशक्त अवरोध हैं और चूंकि इनकी जड़ें समाज में बहुत गहरी पैठी हुई हैं, इसलिये आदर्श सामाजिक संरचना के तहत इन्हें विनिष्ट या पूर्णतया परिसीमित करने हेतु कठोर प्रावधानों को लागू करना जरूरी होगा। ऐसे में इन कठोर प्रावधानों को लागू किये जाने के विरुद्ध संभावित सशक्त जनविरोध को निष्प्रभावी करने में होने वाली भारी जन-धन की हानि से बचने की दृष्टि से आदर्श संरचना को स्थापित करने के पूर्व, मध्यम मार्ग के रूप में एक पूर्वगामी आदर्श संरचना को संक्रमणकालीन प्रयोग के तौर पर आजमाया जाना खासतौर पर दो दृष्टियों से श्रेयष्कर होगा। एक तो इस दृष्टि से कि इससे आदर्श समाज की रचना को साकार करने के लिये उपयुक्त पृष्ठभूमि का निर्माण होगा। जिससे कि उसे लागू किये जाने पर बिना अधिक विरोध के लोग उसे अपना सकें। दूसरे, इस दृष्टि से कि यदि यह प्रयोग कारगर साबित नहीं होता है तो इसकी कमियों को ध्यान में रखते हुये जरूरत के अनुसार आदर्श संरचना की परिकल्पित रूपरेखा में संशोधन कर उसे अधिक कारगर, स्वीकारणीय व प्रभावी बनाया जा सके।

पूर्वगामी आदर्श संरचना

यह संरचना वस्तुतः संविधानगत संरचना का संशोधित रूप है। संविधानगत संरचना विगत लगभग सत्तर सालों से जाति, धर्म, भाषा आदि विभाजनकारी ताकतों तथा आतंकवाद, अलगाववाद एवं भ्रष्टाचार जैसी जटिल समस्याओं से निपटने में बहुत कुछ असमर्थ साबित हो रही है। ऐसे में इन विघटनकारी ताकतों व समस्याओं से सफलतापूर्वक निपटने के उद्देश्य से इसमें कतिपय संशोधन करते हुये इसे पूर्वगामी आदर्श संरचना के रूप में तुलनात्मक रूप से अधिक सक्षम व सशक्त बनाया गया है। मूल रूप से यह एक पंचफलकीय संरचना है। व्यक्ति, वर्ग, राष्ट्रपति शासनतंत्रा, मिश्रित अर्थतंत्र तथा समान नागरिक विधान सहित धर्म निरपेक्ष लोकतांत्रिक राज्य इसके घटक तत्व हैं।

समान नागरिक विधानगत व धर्म निरपेक्ष लोकतांत्रिक राज्य

इन घटक तत्वों में जहाँ तक व्यक्ति एवं मिश्रित अर्थतंत्र का प्रश्न है, ये तत्व दोनों संरचनाओं में समान हैं। दोनों संरचनाओं में एक महत्वपूर्ण अंतर यह है कि संविधानगत संरचना की इकाई जहाँ जाति संवर्ग है, वहीं पूर्वागामी आदर्श संरचना की इकाई वर्ग है। इसमें जाति को कोई स्थान नहीं दिया गया है। साथ ही, इसमें सार्वजनिक सेवाओं में नियोजन एवं उच्च शिक्षा संस्थाओं में प्रवेश में जाति अथवा आर्थिक स्थिति या अन्य किसी आधार पर किसी प्रकार के आरक्षण का कोई प्रावधान नहीं किया गया है। इस संरचनात्मक व्यवस्था में नियोजन का उद्देश्य यह सुनिश्चित करना है कि "सही जगह पर सही आदमी बैठे"। इसमें नियोजन का आधार मात्रा व्यक्ति की योग्यता है। हालांकि पूर्वागामी आदर्श संरचना के तहत समाज के आर्थिक, व्यावसायिक व शैक्षिक दृष्टि से पिछड़े व कमजोर लोगों को सामान्य प्रतिस्पर्द्धा में अन्य लोगों के समकक्ष खड़े होने में समर्थ व सक्षम बनाने के उद्देश्य से उन्हें शिक्षण, प्रशिक्षण तथा स्वरोजगार आदि क्षेत्रों में राज्य की ओर से आवश्यक सुविधा व सहायता प्रदान किये जाने का प्रावधान उपर्युक्त उद्देश्य की पूर्ति के अतिरिक्त उन्हें सामाजिक न्याय सुनिश्चित

किये जाने के साथ इस उद्देश्य से भी किया गया है कि इसके माध्यम से वे अपनी उन्नति व विकास के साथ समाज की उन्नति व विकास में भी सार्थक योगदान कर सकें।

दोनों संरचनाओं में एक अन्य महत्वपूर्ण अन्तर इनके तहत अपनाई गई शासन प्रणाली को लेकर है। सामाजिक सद्भाव एवं एकता में बाधक जाति, धर्म, भाषा व क्षेत्रा आदि आद्य निष्ठाओं सम्बन्धी विभाजनकारी ताकतों तथा आतंकवाद, अलगाववाद एवं भ्रष्टाचार जैसी जटिल समस्याओं से निपटने एवं निहित राजनीतिक व संवर्गीय स्वार्थों से प्रेरित पक्षपातपूर्ण विधायी गतिविधियों पर प्रभावी अंकुश लगाने की दृष्टि से संविधानगत संरचना के तहत अपनाई गई लोकतांत्रिक शासन की एक अस्थायी व कमजोर संसदीय प्रणाली की जगह पूर्वगामी आदर्श संरचना में एक तुलनात्मक रूप से स्थायी व मजबूत राष्ट्रपति शासन प्रणाली को स्थान दिया गया है।

धर्म निरपेक्ष राज्य दोनों ही संरचनाओं में समान रूप से एक महत्वपूर्ण घटक है। साथ ही, जहाँ तक बिना किसी भेदभाव के सभी नागरिकों को समान नागरिकता के साथ धार्मिक स्वतंत्रता एवं अन्य मौलिक अधिकार प्रदान किये जाने की बात है इसमें भी दोनों ही संरचनाओं में समानता है। किन्तु दोनों में अन्तर इस बात को लेकर है कि पूर्वगामी आदर्श संरचना में जहाँ समान नागरिकता एवं समान नागरिक अधिकार के साथ समान नागरिक विधान की भी व्यवस्था है, वहाँ संविधानगत संरचना में मात्र इस अपेक्षा, कि राज्य भारत के समस्त राज्य क्षेत्र में नागरिकों के लिये एक समान सिविल संहिता प्राप्त कराने का प्रयास करेगा, के अतिरिक्त इस सम्बन्ध में कोई वैधानिक प्रावधान नहीं है।

आदर्श भारतीय सामाजिक संरचना

भारतीय संदर्भ में आदर्श संरचना की कसौटियों तथा वर्तमान संविधानगत सामाजिक संरचना के सम्मुख उपस्थित समस्याओं और चुनौतियों के निराकरण में आने वाली कठिनाइयों एवं पूर्वगामी आदर्श संरचना के प्रभावी न हो पाने की स्थिति को ध्यान में रखते हुए भारतीय समाज के लिये एक पंचफलकीय आदर्श संरचना की परिकल्पना की गई है। जिसमें व्यक्ति, वर्ग, राष्ट्रपति शासनतंत्र तथा उदारवादी मिश्रित अर्थतंत्र इसके आधार फलक के छोर और इसके निर्मायक भागों के बीच सम्बन्धों को परिभाषित, नियमित एवं नियंत्रित करने वाले नियमों की रचना एवं उनके अनुमोदन के स्रोत के रूप में लोकतांत्रिक राज्य इसका शीर्ष है।

आदर्श संरचना का केन्द्र व्यक्ति है। चूँकि व्यक्ति के अस्तित्व पर ही समाज और उसकी संरचना का अस्तित्व निर्भर करता है, इसलिये आदर्श संरचना का प्राथमिक उद्देश्य व्यक्ति के हितों की रक्षा करना तथा उसे आत्मविकास के लिये आवश्यक स्वतंत्रता एवं अवसर प्रदान करना होता है। हालांकि आदर्श संरचना जहाँ व्यक्ति के हितों की रक्षा करती है, उसकी वैयक्तिकता एवं गरिमा को बनाये रखती है और उसे आत्मविकास के लिये आवश्यक स्वतंत्रता एवं अवसर प्रदान करती है वहीं उसकी स्वच्छन्दता एवं मनमानी पर अंकुश भी लगाती है। साथ ही, वह उसे अपने व दूसरों के हितों के बीच सामंजस्य बिठाने पर जोर देने के साथ सामाजिक नियमों के तहत बांधकर भी रखती है। इस प्रकार आदर्श संरचना के तहत व्यक्ति और समाज के बीच परस्पर अभिन्न व अन्योन्याश्रित सम्बन्ध होता है। हालांकि व्यक्ति और समाज दोनों का अपना अस्तित्व और अपनी स्वतंत्रता पहचान होती है किन्तु दोनों एक-दूसरे से इस प्रकार अभिन्न रूप से जुड़े होते हैं कि एक के अभाव में दूसरे के अस्तित्व

की कल्पना नहीं की जा सकती है। समाज के अभाव में जहाँ व्यक्ति की उन्नति व प्रगति करना तो दूर जीवित रहना मुश्किल होता है वहीं व्यक्ति के अभाव में समाज का कोई अस्तित्व नहीं होता है।

पूर्वगामी आदर्श सामाजिक संरचना की भांति आदर्श भारतीय सामाजिक संरचना की इकाई भी वर्ग है। तात्पर्य यह है कि आदर्श भारतीय सामाजिक संरचना में भी जाति को कोई स्थान नहीं दिया गया है और पूर्वगामी आदर्श संरचना की भांति इसमें भी जाति या आर्थिक या अन्य किसी आधार पर आरक्षण का कोई प्रावधान नहीं किया गया है। इसमें भी सार्वजनिक सेवाओं में नियोजन एवं उच्च शैक्षिक संस्थाओं में प्रवेश का एकमात्र आधार व्यक्ति की योग्यता है। इसमें भी नियोजन का बुनियादी उद्देश्य "सही जगह पर सही आदमी बैठे" की व्यवस्था करना है।

आदर्श संरचना के तहत आर्थिक गतिविधियाँ उदारवादी अर्थतंत्र के तहत संचालित होती हैं। उदारवादी अर्थतंत्र बहुत कुछ अर्थ में संविधानगत संरचना के मिश्रित अर्थतंत्र का उदारवादी संस्करण है। इसके तहत समाज की आर्थिक गतिविधियों, चाहे वे निजी या सार्वजनिक क्षेत्र के तहत संचालित हों, जहाँ तक वे समाज के हित के लिये खतरा न हों, राज्य के नियंत्रण से पूर्णतया मुक्त स्वतंत्र बाजार के नियमों से संचालित होती हैं। यद्यपि इसके तहत सामाजिक लाभ का एक उल्लेखनीय भाग समाज के शैक्षिक, आर्थिक एवं व्यावसायिक दृष्टि से पिछड़े लोगों को सामाजिक न्याय सुलभ कराये जाने के अतिरिक्त इस उद्देश्य से इनके सहायतार्थ आरक्षित किया गया होता है कि सामान्य प्रतिस्पर्द्धा में वे अन्य लोगों के साथ बराबरी में खड़ा हो सकने में अपने को समर्थ बना सकें और समाज की प्रगति में सार्थक योगदान कर सकें (सिंह, 2018 ब:20)।

भारत जैसे विषम, बहुल एवं भिन्न हितों व निष्ठाओं वाले समाज में जाति, धर्म, भाषा, क्षेत्र आदि विभाजन एवं विघटनकारी ताकतों सदियों से समाज को कमजोर करती रही हैं। ऐसे में इन विभाजनकारी ताकतों तथा आंतरिक व बाह्य चुनौतियों से निपटने के लिये एक स्थायी व मजबूत शासनतंत्र की आवश्यकता थी। किन्तु स्वतंत्रतोपरांत संविधानगत संरचना द्वारा एक तुलनात्मक रूप से अस्थायी व कमजोर संसदीय शासन प्रणाली के अपनाये जाने से इस आवश्यकता की कारगर ढंग से पूर्ति नहीं हो पाई। जिसे ध्यान में रखते हुये आदर्श संरचना में उसके स्थान पर एक तुलनात्मक रूप से स्थायी व मजबूत राष्ट्रपति शासनतंत्र को अपनाया गया है। दूसरे शब्दों में, राष्ट्रीय एकता तथा समेकित द्रुत विकास के लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु आदर्श संरचना के तहत वर्तमान अस्थायी व कमजोर संसदीय शासन प्रणाली की जगह एक स्थायी व मजबूत राष्ट्रपति शासन प्रणाली को स्थान दिया गया है।

पूर्वगामी आदर्श भारतीय सामाजिक संरचना तथा आदर्श भारतीय सामाजिक संरचना के निर्मायक घटकों में लोकतांत्रिक राज्य तो सामान्य है किन्तु लोकतांत्रिक राज्य की धार्मिक प्रकृति का जहाँ तक सवाल है दोनों संरचनाओं में मौलिक रूप से भिन्नता है। पूर्वगामी आदर्श संरचना में संविधानगत संरचना की भांति लोकतांत्रिक राज्य धर्मनिरपेक्ष है किन्तु आदर्श सामाजिक संरचना में लोकतांत्रिक राज्य धर्मविहीन है। धर्मनिरपेक्षता व धर्मविहीनता में मौलिक भेद है। राज्य के धर्म निरपेक्ष होने का अर्थ है कि राज्य का अपना कोई धर्म नहीं होगा। धर्म के मामले में राज्य तटस्थ होगा और बिना किसी विशेष परिस्थिति के धार्मिक मामले में राज्य कोई हस्तक्षेप नहीं करेगा। धर्मविहीनता का जहाँ तक प्रश्न है, यद्यपि इसका अर्थ धर्म के अस्तित्व को नकारना तो नहीं है किन्तु सामाजिक जीवन में धर्म की भूमिका को पूर्णतया समाप्त करना अवश्य है। धर्मविहीन राज्य में निजी जीवन में चिन्तन

एवं अंतःकरण की शुद्धि तथा आचरण के परिमार्जन के साधन के रूप में धर्म का अस्तित्व तो बना रहता है किन्तु सामाजिक क्रियाकलाप में इसकी कोई भूमिका नहीं होती। धार्मिक शिक्षा, धर्म के प्रचार प्रसार व धार्मिक संगठनों के निर्माण पर प्रतिबंध होता है। मन्दिर, मस्जिद, गिरिजाघर तथा मठ एवं विहार राज्य की सम्पत्ति होते हैं जिन्हें सार्वजनिक उद्देश्यों की पूर्ति में प्रवर्तित व प्रयुक्त करने का राज्य को पूरा अधिकार होता है (सिंह, 1999:65)। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि लोकतांत्रिक राज्य की धर्मगत प्रकृति में भिन्नता को छोड़कर दोनों संरचनाओं के निर्मायक अन्य सभी घटक कमोवेश सभी मायनों में एक-दूसरे के समान हैं।

संप्रति, भारत में धर्म समाज को बांटने व कमजोर करने वाली ताकतों में जाति सहित अन्य सभी ताकतों से कहीं कई गुना मजबूत ताकत है। इसके दो प्रधान कारण हैं। एक तो यह कि अन्य विभाजनकारी ताकतों की समाज में पैठ उतनी गहरी और उनकी पकड़ उतनी व्यापक और मजबूत नहीं है जितनी कि धर्म की है। दूसरे यह कि अन्य विभाजनकारी ताकतों को किसी अन्य विधा या माध्यम से यदि प्रस्थापित नहीं तो कम से कम कमजोर अवश्य किया जा सकता है। किन्तु मानव चूँकि एक चेतन एवं सामाजिक प्राणी होने के साथ एक सांस्कृतिक प्राणी भी है और चूँकि संस्कृति का आस्था, अध्यात्म और अलौकिक पक्ष चेतनोपरि, इन्द्रियोपरि एवं लौकिकोपरि है अर्थात् तर्क, बुद्धि व इन्द्रियात्मक ज्ञान से ऊपर या श्रेष्ठ है, इसलिये इसको विशेष रूप से धर्म, जो इसका अभिन्न और सर्वाधिक महत्वपूर्ण अंग है, को कमजोर करना बहुत मुश्किल और प्रस्थापित कर पाना तो बहुत कुछ नामुमकिन है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि आज की स्थिति में किसी अन्य स्रोत द्वारा धर्म को प्रस्थापित कर पाना संभव नहीं है। किन्तु समाज मूल है। धर्म समाज की तुलना में गौण है। क्योंकि धर्म समाज की उपज है, समाज धर्म की उपज नहीं है। और जहाँ तक व्यक्ति का सवाल है वह धर्म के बिना तो रह सकता है किन्तु समाज के बिना उसका जी पाना मुश्किल है। समाज के अभाव में मनुष्य यदि जी सकता भी है तो वह एक मनुष्य की भांति नहीं बल्कि एक जानवर की भांति ही जी सकता है और जानवरों के बीच किसी अकेले मनुष्य के लिये अपने को बचा पाना आसान नहीं है। कहने का तात्पर्य यह है कि धर्म अगर समाज के अस्तित्व के लिये खतरा है तो वह व्यक्ति के अस्तित्व के लिये उससे कहीं बड़ा खतरा है।

उपर्युक्त तथ्यों को ध्यान में रखते हुये निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि भारत में धर्म अगर समाज के अस्तित्व के लिये खतरा बनता है और इस खतरे से निपटने में समान नागरिक विधान आधारित धर्म निरपेक्ष लोकतांत्रिक राज्य सम्बन्धी पूर्वगामी आदर्श संरचना का प्रयोग यदि सफल नहीं होता है तो समाज और व्यक्ति की रक्षा के लिये आदर्श संरचना के तहत धर्मविहीन लोकतांत्रिक राज्य के माध्यम से सामाजिक जीवन में धर्म के परिपालन पर रोक लगाने के अतिरिक्त हमारे पास अन्य कोई विकल्प नहीं है। हालांकि आदर्श संरचना के तहत राज्य के धर्मविहीन होने के बावजूद निजी जीवन में धर्म के परिपालन की आजादी बनी रहने से मानव जीवन में धर्म के अस्तित्व को समाप्त नहीं किया गया है, फिर भी, इस बात की प्रबल संभावना है कि धर्माचार्यों व धार्मिक कर्मकाण्डियों के एक बड़े वर्ग द्वारा, जो सदियों से धर्म के नाम पर अपनी रोजी-रोटी चलाता आ रहा है और जो धार्मिक सत्ता पर अपनी पकड़ तथा इस आधार पर लोकतांत्रिक व्यवस्था में वोट की राजनीति को प्रभावित करने की अपनी क्षमता के कारण समाज पर अपना प्रभाव भी रखता है, इस प्रतिबन्ध का पूरी ताकत के साथ विरोध किया जाए। विरोध तो धर्म के नाम पर अपनी राजनीतिक

रोटियाँ सेंकने वाले राजनेता और उनके समर्थक भी कर सकते हैं और बहुत संभव है कि भारत की धर्मभीरु जनता भी दबे सहमे इसका विरोध करे। थोड़ी देर के लिये यदि मान लिया जाए कि जनता इसका विरोध नहीं करेगी तो भी इस बात की प्रत्याभूति नहीं दी जा सकती है कि वह इसे आसानी से स्वीकार कर लेगी। लेकिन भारत में धर्म अगर समाज और व्यक्ति के विकास के साथ उनके अस्तित्व के लिये भी खतरा बनता है तो सामाजिक जीवन में उसकी भूमिका को पूर्णतया परिसीमित किया जाना जरूरी है और इसके मार्ग में आने वाली हर बाधा को दूर करने और इस सम्बन्ध में हर विरोध का सामना करने के लिये राज्य को अधिकाधिक सशक्त और अधिकृत करने के अतिरिक्त हमारे पास कोई अन्य विकल्प नहीं है।

आदर्श भारतीय समाज की रचना के मार्ग में आने वाली बाधाएँ एवं चुनौतियाँ और उनका निवारण

संप्रति आदर्श भारतीय समाज की रचना की राह में एक बड़ी चुनौतीपूर्ण समस्या आमजन में यह विश्वास पैदा करने की है कि सार्वजनिक जीवन एवं कार्यकरण में व्यक्ति को उसकी योग्यता के अनुसार अवसर मिलेगा और सही जगह पर सही आदमी ही बैठेगा। हालांकि यह समस्या जितनी आसान दिखती है उतनी आसान नहीं है किन्तु असाध्य भी नहीं है। वैसे यह मुख्य रूप से सुशासन की समस्या है जिसे राजनीतिक इच्छाशक्ति एवं प्रशासनतंत्र में नैतिकता, दायित्वबोध एवं दक्षता के विकास के माध्यम से हल किया जा सकता है।

आदर्श समाज की रचना के मार्ग में दूसरी बड़ी चुनौती विधायीतंत्र को अपने राजनीतिक एवं संवर्गीय हितों तथा किसी हद तक अपने निकटस्थ व्यापारिक घरानों एवं शीर्ष प्रशासनिक, पुलिस एवं न्यायिक सेवाकर्मियों के हित संवर्धन में पक्षपातपूर्ण विधान बनाने से रोकना है ताकि विधायिका की निष्पक्षता के प्रति लोगों का विश्वास बना रहे और समाज में अन्याय व भेदभावजनक स्थिति पैदा न हो। दरअसल, सामाजिक नियम एवं विधान सामाजिक सम्बन्ध को परिभाषित करते हैं और समाज की रचना को आकार प्रदान करते हैं। चूँकि सामाजिक सम्बन्ध और सामाजिक सम्बन्धों से बनी सामाजिक संरचना के बनने और बने रहने का आधार न्याय है और चूँकि न्याय का निर्धारण सामान्यतया नियम और विधान के आधार पर होता है, इसलिये यदि नियम और विधान निष्पक्ष व न्यायपूर्ण नहीं हुये तो समाज में अन्याय व भेदभाव की स्थिति पैदा होती है जिससे सामाजिक सम्बन्धों और सामाजिक संरचना का बना रहना मुश्किल हो जाता है। ऐसा इसलिये क्योंकि अन्याय व भेदभाव के चलते समाज की एकता टूटती है और समाज कमजोर होने के साथ पतन व पराभव को प्राप्त होता है।

अतीत में विशेष रूप से वैदिक एवं बौद्ध काल में जब वर्ण विधान निष्पक्ष व न्यायपूर्ण थे तब वर्णों के बीच सम्बन्ध स्वतंत्रता एवं समानता अर्थात् न्याय पर आधारित थे और वर्ण संरचना भी स्वतंत्रता, समानता, नैतिकता के सिद्धांतों पर आधारित न्यायपूर्ण, खुली, पारगम्य व नैतिकतापरक थी। लेकिन आगे चलकर स्मृतिकाल के दौर में विशेष रूप से पुष्यमित्र शुंग के ब्राह्मणशासन काल में जब ब्राह्मण शास्त्रकारों द्वारा अपने व अपने निकट सहयोगी वर्णों के हित संवर्धन में पक्षपातपूर्ण विधानों की रचना की गई और उन्हें वृहत्तर समाज पर लागू किया गया तो स्वतंत्रता, समानता, न्याय और नैतिकता के सिद्धांतों पर आधारित खुली, पारगम्य व लचीली वर्ण संरचना एक बन्द, अपारगम्य व कठोर जाति संरचना में रूपांतरित हो गई। परिणामस्वरूप, भारतीय समाज पतन व पराभव के गर्त में पहुँच गया। ऐसे में अगर हमारा आज का विधाननिर्मायक विधायी वर्ग अपने निहित संवर्गीय व

राजनीतिक स्वार्थों के वशीभूत हो अपने व अपने निकट सहयोगियों (बड़े व्यापारिक घरानों, उच्च प्रशासनिक, पुलिस व न्यायिक सेवाकर्मियों) के हित संवर्धन में अन्याय व भेदभावपूर्ण विधानों की रचना के माध्यम से पुराने इतिहास को फिर दुहराता है तो बहुत संभव है कि हम अपनी आजादी, जिसे हमारी पिछली कुछ पीढ़ियों ने कठिन संघर्ष और कुर्बानी के बाद हासिल किया है, को कहीं फिर से न गवां दें। ऐसे में विधायिका की निहित संवर्गीय स्वार्थों से प्रेरित गतिविधियों को रोकने के लिये उसके द्वारा निजी हित में पारित विधानों को एक प्रवर समिति, जिसमें शिक्षक, किसान, सैनिक, श्रमिक तथ वित्त एवं विधि विशेषज्ञ आदि समाज के प्रमुख वर्गों के सदस्य हों, के समीक्षोपरांत प्रस्तुत अभिमत पर उच्चतम न्यायालय की अभिस्वीकृति के बाद लागू किया जाए अन्यथा निरस्त समझा जाए।

आदर्श समाज की रचना की राह में तीसरी बड़ी चुनौती लैंगिक असमानता एवं भेदभाव को समाप्त करने की है। इस सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि उच्च प्रौद्योगिकी के इस युग में जीवन की दशाओं में आये बदलाव, विज्ञान एवं आधुनिक शिक्षा के प्रसार तथा संवैधानिक प्रावधानों के तहत प्राप्त समान अधिकार एवं विशेष सुरक्षा उपायों आदि के चलते विशेष रूप से स्वतंत्रतोपरांत महिलाओं ने जिस तेजी से प्रगति की है उसे देखते हुये इस बात से शायद ही इन्कार किया जा सकता है कि आगे आने वाले कुछ वर्षों में वे समाज में अपने साथ सदियों से होने वाले अन्याय व भेदभावपूर्ण बर्ताव को न केवल पूरी तौर पर समाप्त कर देंगी बल्कि सार्वजनिक जीवन के कई क्षेत्रों में पुरुषों से आगे निकल जायेंगी। महिलाओं की प्रगति की रफ्तार यदि यही रही जो पिछले कुछ वर्षों से उनमें है, तो वह दिन दूर नहीं जबकि विगत लगभग दो-ढाई हजार वर्षों से भारत में चला आ रहा पुरुष प्रधान समाज, महिला प्रधान समाज में रूपांतरित हो जाए। यदि ऐसा होता है, जिसकी संभावना बहुत अधिक है, तो समाज में जो बदलाव आयेंगे उनके बारे में भारतीय महिलाओं की अब तक की भलमनसाहत को देखते हुये एक बात तो निश्चित रूप से कही जा सकती है कि आने वाले समय में महिला प्रधान भारतीय समाज, पुरुष प्रधान भारतीय समाज की भांति कठोर व विद्रूप नहीं होगा जो पुरुषों को महिलाओं की भांति वेश्या, देवदासी अथवा बाजार में बिकने वाली वस्तु में रूपांतरित कर दे (सिंह, 2015 अ: 79-106)। हाल में महिलाओं के साथ जो अत्याचार विशेष रूप से बलात्कार की घटनायें हो रही हैं, वे वस्तुतः पुरुषों की हताशा की प्रतीक हैं। कहते हैं कि दिया जब बुझने को होता है तो बहुत चमकता है। पुरुषों की आज जो दरिन्दगी देखने को मिलती है वह बहुत कुछ इसी स्थिति की द्योतक है। यह उनके हाथ से खिसक रही सत्ता की खिसियाहट है। पुरुषों की इस दरिन्दगी को रोकने के लिये इसके विरुद्ध न केवल सख्त कानून के तहत सख्त सजा का प्रावधान किया जाए बल्कि इसे बिना किसी विलम्ब के सख्ती से अमल में भी लाया जाए। यही नहीं बल्कि सजायापत्ताओं के सजा भुगतने के दृश्य को मीडिया के माध्यम से आमजन तक पहुँचाया जाए ताकि दूसरे लोग ऐसी दरिन्दगी करने का स्वप्न में भी दुस्साहस न कर सकें।

अतीत में आदर्श समाज की संकल्पना को साकार करने के मार्ग में जाति और धर्म अन्य सभी बाधाओं से बड़ी बाधा और अन्य सभी चुनौतियों से बड़ी चुनौतियाँ हैं। अगर भारतीय समाज को आदर्श समाज बनना है तो उसे इन दोनों बाधाओं को पार करना होगा और इन दोनों चुनौतियों से निपटना होगा। इन दोनों चुनौतियों में से कोई भी चुनौती अगर अनुत्तरित रह जाती है तो वह समाज को आदर्श बनाने से रोकने के लिये पर्याप्त होगी। अतीत में जब भारतीय समाज जाति, धर्म और संप्रदाय में बँटा नहीं था, तब वह एक था, मजबूत था और उन्नत था। किन्तु इन बाधाओं के पैदा होने के साथ

समाज परस्पर द्वेष व कलहग्रस्त समूहों में बंट गया, परिणामस्वरूप, अवनत व कमजोर हो गया। नतीजतन, ताकतवर व सम्पन्न होने के बावजूद वह मुट्ठीभर विदेशी आक्रांताओं का सामना नहीं कर सका और हजार-बारह सौ वर्षों तक दासता का दंश झेलने को विवश हुआ।

अगर हम अतीत के इतिहास में जायें तो देखेंगे कि अतीत में भारतीय समाज के पतन व पराभव का प्रमुख कारण जाति रही है। जब समाज में वर्ण थे और वर्ण खुले व पारगम्य थे तब समाज में समरसता थी, सामंजस्य था और एकता थी। किन्तु जाति के अस्तित्व में आने के बाद समाज में एकता का अभाव हुआ क्योंकि असमानता, अन्याय व भेदभावपरक होने के कारण जाति समाज में विभाजन, विघटन व संघर्ष को बढ़ावा देती है। और जब समाज में एकता का अभाव होता है तो उसमें दासता के आने की संभावना बन जाती है। बहुत कुछ अर्थों में जाति के विभाजन एवं विघटनकारी प्रभाव के कारण आम्बेडकर ने इसके उन्मूलन की पुरजोर वकालत की (आम्बेडकर, 1937)। जाति आधारित हिन्दू सामाजिक संरचना को वे एक दोषपूर्ण सामाजिक संरचना निरूपित करते थे। उनका कहना था कि वर्गान्तर और सामाजिक भेद तो सभी समाजों में देखे जा सकते हैं किन्तु विभिन्न स्थिति समूहों में अन्तःक्रिया, अन्तर्याग और अन्तर्युक्तता की दृष्टि से सबमें और जाति में अन्तर है। आचार, विचार और विश्वास में सभी हिन्दू एक हैं किन्तु वास्तविक अर्थ में सब एक समाज या राष्ट्र नहीं हैं बल्कि जातियों का एक संग्रह हैं (कीर, 1981: 270)।

जाति व्यवस्था ने आम्बेडकर (1974:42-44) के अनुसार हिन्दू समाज में असंगठन को जन्म दिया। जातियों के कारण हिन्दू समाज में साम्प्रदायिक जीवन पद्धति का लोप हो गया। अलग-अलग जातियों की जीवन पद्धति में भिन्नता के कारण हिन्दू समाज में आपसी भाईचारा, सहयोग और संगठन कमजोर हो गया जिसके चलते हिन्दुओं में असुरक्षा, भीरुता, कायरता, अलगाव व एकाकीपन का विकास हुआ कि एक हिन्दू दूसरे हिन्दू से सुरक्षा और सहायता की आशा इसलिये नहीं करता क्योंकि उनमें आपसी भाईचारे का अभाव है। हिन्दुओं में आपसी भाईचारा और सामुदायिक जीवन पद्धति का अभाव इसलिये है क्योंकि उनका सामाजिक ताना-बाना उन्हें एक नहीं बल्कि जातियों के अलग-अलग दड़बों में बन्द करता है। एक हिन्दू दूसरे को अपने से छोटा या बड़ा समझता है। अपने बराबर का भाई नहीं समझता। जिसे दृष्टिगत रखते हुए आम्बेडकर ने बड़े स्पष्ट शब्दों में कहा कि जब तक हिन्दुओं में जाति विद्यमान है, हिन्दू संगठित नहीं हो सकते। ऐसे में वे कमजोर व निरीह बने रहेंगे। उन्हें दूसरों से अपमान व अत्याचार विवश होकर सहन करना पड़ेगा (सिंह, 2002: 78-79)।

जाति के विनाशकारी प्रभाव को देखते हुए सदियों से बड़े-बड़े मसीहा और सामाजिक-धार्मिक सुधारक इसके निदान में लगे रहे। स्वतंत्रतोपरांत इस दिशा में यथा आवश्यक वैधानिक प्रयास भी किये गये किन्तु हिन्दू समाज सहित भारतीय उपमहाद्वीप के कमोवेश सभी समाजों में जाति ऐसी कुण्डली मारकर बैठ गई है कि जाने का नाम ही नहीं लेती। जाति के उन्मूलन सम्बन्धी यह विवशता लोगों की इस उक्ति से बहुत साफ झलकती है कि "कहते तो हैं इसे जाति, मगर यह जाति नहीं है।" वैसे भारतीय समाज में जाति भले दीर्घकाल से चली आ रही है और अतीत में इसके उन्मूलन के प्रयासों में भले ही सफलता नहीं मिल पाई है, फिर भी, अतीत की भांति अगर यह आज भी न केवल समाज की प्रगति बल्कि अस्तित्व के लिये भी खतरा बन गई है तो अपने अस्तित्व की रक्षा के लिये इसे हर हालत में उन्मूलित करना ही होगा। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुये, जैसा कि पूर्व में स्पष्ट किया गया है, आदर्श भारतीय समाज की परिकल्पना में जाति को कोई स्थान नहीं दिया गया है।

कुछ लोग कह सकते हैं कि आदर्श समाज की संरचना में जाति को कोई स्थान नहीं दिये जाने से व्यावहारिक धरातल पर जाति का उन्मूलन हो जायेगा, यह मान लेना सही नहीं है। वैसे यह सही है कि जाति का उन्मूलन मुश्किल है और यह भी सही है कि लम्बे समय से इसमें सफलता नहीं मिली है किंतु इस आधार पर यह मान लेना कि भविष्य में भी ऐसा ही होगा यह सही नहीं है। जाति का उन्मूलन मुश्किल जरूर है किन्तु नामुमकिन नहीं है। एक सामाजिक संस्था के रूप में जाति की जड़ कठोर, मजबूत व स्थायी हो सकती है किन्तु शाश्वत या अउन्मूलनकारी नहीं हो सकती। ऐसा इसलिये कहा जा सकता है क्योंकि जिन भौतिक, तकनीकी तथा सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक व वैधानिक परिस्थितियों में इसका विकास हुआ वे अब नहीं हैं और जिन संस्थाओं के द्वारा यह संपोषित व संरक्षित होती रही हैं वे अब समाप्त या प्रभावहीन हो गई हैं, ऐसे में जाति का बना रहना संभव नहीं है। इसका समाप्त होना निश्चित है, इस बात में इन्कार नहीं किया जा सकता है। विज्ञान विशेष रूप से उच्च प्रौद्योगिकी के वर्तमान युग में भौतिक व तकनीकी दशाओं में आये क्रांतिकारी परिवर्तनों के फलस्वरूप मानव की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक व वैधानिक व्यवस्थाओं में आये आमूलचूल बदलाव के कारण जाति की जड़ें काफी कमजोर हो गई हैं। वैसे भी, यह एक सर्वमान्य सत्य है कि क्रांतिकारी परिवर्तन के परिणामस्वरूप इतिहास की पुनरावृत्ति नहीं होती। लोकतंत्रा का विकल्प सामंतवाद नहीं हो सकता। विज्ञान का विकल्प पोथीवाद या पुरोहितवाद नहीं हो सकता। सामंतवाद और पुरोहितवाद के अभाव में जाति व्यवस्था का टिकना मुश्किल है। इसलिये भारत में जाति व्यवस्था का भविष्य अंधकारमय है। जाति के समाप्त होने में सन्देह नहीं है, इसमें देर हो सकती है (सिंह, 2015 ब: 217)।

आज के संदर्भ में अगर यह कहा जाए कि भारत में आदर्श समाज की रचना में सबसे बड़ी बाधा धर्म है तो कदाचित गलत नहीं होगा। वैसे भी धर्म अपनी रूढ़िवादी एवं आग्रहमूलक प्रकृति के कारण कमोवेश सभी समाजों में प्रगति एवं विकास को बहुत कुछ अन्यथा ही प्रभावित करता है। किन्तु भारत जैसे बहुधर्मी देश में, जहाँ कुछ धर्म, सहिष्णु, उदार एवं कम आग्रही हैं, कुछ इन विषयों में सामान्य व मध्यम है, जबकि कुछ असहिष्णु, अनुदार व आग्रही और कुछ अत्यधिक असहिष्णु, अत्यधिक अनुदार व अत्यधिक आग्रही हैं, धर्म के मामले में राज्य के तटस्थ होने और किन्हीं विशेष स्थितियों का छोड़कर धार्मिक मामलों में हस्तक्षेप न करने की नीति पर चलने के कारण धर्मों की प्रकृति में यह भिन्नता सामाजिक सामंजस्य एवं एकता को कमजोर करती है। जिसके चलते समाज की प्रगति एवं विकास अवरुद्ध हो जाता है।

अतीत के अनुभव से तो यही पता चलता है कि अपने आग्रहमूलक एवं विभाजनकारी स्वभाव के कारण भारतीय समाज में धर्म, धार्मिक समूहों के बीच सदभाव, सौहार्द व एकता के विकास में बहुत बाधक रहा है। धर्म के आधार पर देश का बँटवारा हुआ। धार्मिक आधार पर देश के बँटवारे के बावजूद स्वतंत्रातोपरांत भारत में लोकतांत्रिक संविधान को अपनाते हुये धर्मनिरपेक्ष राज्य को अधिमान्यता दी गई तथा बिना किसी भेदभाव के सभी नागरिकों को बुनियादी विषयों में स्वतंत्रता, विधि के समक्ष समानता तथा धार्मिक अधिकारों सहित अन्य मौलिक अधिकार प्रदान किये गये। इन सकारात्मक एवं उदारवादी व्यवस्थाओं को लागू किये जाने के साथ सोचा यह गया कि अब देश में सांप्रदायिक समस्या हमेशा के लिये खत्म हो जाएगी। किन्तु स्वतंत्रातोपरांत संविधान लागू हाने के

लगभग सत्तर सालों के बाद भी न तो ऐसा कुछ हुआ और न ही इस संविधानगत संरचना के तहत ऐसा कुछ हो पाने की संभावना दिखाई देती है।

हाल के वर्षों में जिस तेजी से धार्मिक कट्टरता और जिहादी आतंकवाद का दुनिया में प्रसार हुआ है, उससे कमोवेश पूरा विश्व आक्रांत है। उग्र धार्मिकता और विनाशकारी जिहादी आतंकवाद के चलते आज दुनिया के कई देशों में लम्बे समय से चल रहे खूनी संघर्ष रूकने का नाम नहीं ले रहे हैं। वेसे छोटी-मोटी आतंकवादी गतिविधियाँ तो आये दिन यूरोप, अमेरिका, एशिया व अफ्रीका सहित विश्व के कमोवेश सभी महाद्वीपों में चलती रहती हैं। हालांकि भारत में स्थिति अभी काफी नियंत्रण में है किंतु समय रहते यदि धार्मिक कट्टरता एवं साम्प्रदायिकता जैसी जटिल व्याधियों के रोकथाम व निवारण की ठोस व्यवस्था नहीं की गई तो भारत की स्थिति भी मध्यपूर्व के देशों जैसी होने में देर नहीं लगेगी।

धार्मिक कट्टरता व सांप्रदायिकता जैसे शक्तिशाली जहर को सामाजिक सद्भाव, प्रेम व भाईचारे पर आधारित शांतिपूर्ण संवैधानिक तरीके से रोक पाने से सम्बन्धित प्रयोग कमोवेश पूरी दुनिया में सफल नहीं हो पाये हैं। चिकित्सा विज्ञान का भी कुछ ऐसा ही मानना है कि जहर का इलाज अमृत से नहीं हो सकता है। जहर का इलाज तो जहर या उससे कहीं अधिक कड़े जहर से ही हो सकता है। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए, जैसा कि पूर्व में कहा गया है, आदर्श भारतीय समाज की संरचना में धर्म को कोई स्थान नहीं दिया गया है। इसके अतिरिक्त सामाजिक जीवन में इसके परिपालन को पूर्णतया प्रतिषिद्ध किया गया है। साथ ही, इस व्यवस्था के विरुद्ध किसी प्रकार के विरोध से निपटने के लिये राज्य को कड़े से कड़े कदम उठाने के लिये अधिकृत भी किया गया है। ये प्रावधान कड़वे, कष्टप्रद कठोर हो सकते हैं किन्तु, जिस तरह की स्थितियाँ निर्मित हो रही हैं उन्हें देखते हुए तो यही लगता है कि राष्ट्र की एकता, अखण्डता, और अस्तित्व की रक्षा के लिये इन्हें लागू करने के अलावा हमारे पास कोई अन्य विकल्प नहीं है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

- आम्बेडकर, बी.आर. 1937 एनिहिलेशन ऑफ कास्ट बाम्बे, पापुलर प्रकाशन
 आम्बेडकर, बी.आर. 1974 जाति भेद का उच्छेद (एनिहिलेशन ऑफ कास्ट का हिन्दी अनुवाद)
 झीमक (कानपुर) डॉ. आम्बेडकर साहित्य रक्षा परिषद
 आम्बेडकर, बी.आर. 1980, बुद्धा एण्ड द फ्यूचर ऑफ हिजरेलिजन जालंधर, भीम पत्रिका प्रकाशन।
 कीर, धनंजय 1981 आम्बेडकर: लाइफ एण्ड मिशनस बाम्बे, पापुलर प्रकाशन
 सिंह, रामगोपाल 1999 सामाजिक न्याय लोकतंत्रा और जाति व्यवस्था जयपुर, रावत पब्लिकेशन्स।
 सिंह, रामगोपाल 2002 डॉ. आम्बेडकर का जीवन एवं विचार दर्शन भोपाल, मध्यप्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी।
 सिंह, रामगोपाल 2015 अ भारतीय समाज में महिला पुरुष सम्बन्ध के बदलते प्रतिमान जयपुर, नेशनल पब्लिकेशन्स।
 सिंह, रामगोपाल 2015 ब भारतीय समाज भोपाल, मध्यप्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी।
 सिंह, रामगोपाल 2017 अ भारतीय समाज के पराभव के कारणों का विवेचन जनमत स्वर 17(11):3-17

- सिंह रामगोपाल, 2017 ब संविधानपूर्व सामाजिक संरचना जनमत स्वर 18(2):17–23
सिंह रामगोपाल, 2017 स संविधानगत सामाजिक संरचना के घटक तत्व रचना 128:70–79
सिंह, रामगोपाल 2017 द संविधानगत अपेक्षाय कहीं तक पूरी हुई जनमत स्वर 18(3):3–9
सिंह, रामगोपाल 2018 अ आदर्श समाज की कसौटियाँ जनमत स्वर 18(6): 10–18
सिंह रामगोपाल 2018 ब आदर्श भारतीय समाज की संकल्पना जनमत स्वर 18(7): 18–22

आई.एस.एस.एन. संख्या : 2454-2458

नवरचना NAVRACHNA

www.grefiglobal.org/journals/navrachna.2018

वर्ष 4, अंक 1-2, जून-दिसम्बर 2018, पृ. 20-25

वैश्वीकरण एवं राष्ट्र राज्य

सुभाष शुक्ला*

सारांश

यह शोध पत्र इस बहस का विश्लेषण करने का प्रयास करता है कि वैश्वीकरण के समकालीन चरण में राष्ट्र राज्य के स्वरूप एवं भूमिका में निश्चित रूप से बदलाव आया है। सर्वप्रथम, राष्ट्र राज्य व्यवस्था का विश्लेषण किया गया है। दूसरे भाग में वैश्वीकरण की अवधारणा को स्पष्ट किया गया है। तीसरे भाग में वैश्वीकरण का प्रभाव किस प्रकार से राष्ट्र राज्य पर पड़ा है उसकी व्याख्या की गयी है। निष्कर्ष में इस बात पर सहमति व्यक्त की गयी है कि वैश्वीकरण के समकालीन चरण में राष्ट्र राज्य का अन्त न हो कर उसके स्वरूप में बदलाव आया है।

प्रथम

आधुनिक काल में अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का उद्भव वेस्टफेलिया की संधि के साथ सन् 1648 में माना जाता है। उसी के साथ अंतर्राष्ट्रीय जगत में संप्रभु राष्ट्र राज्य व्यवस्था की भी स्थापना हुई। वेस्टफेलिया की संधि का आधार यूरोपीय राष्ट्र राज्यों के शासकों के बीच यह समझौता था कि एक दूसरे के उस अधिकार को मान्यता देते हैं जिसके अंतर्गत उन्हें अपने राज्य के भू-क्षेत्र में बिना किसी बाहरी हस्तक्षेप के शासन करने का अधिकार है।

वेस्टफेलिया संधि की तीन प्रमुख विशेषतायें निम्नलिखित हैं¹

- 1) भू क्षेत्रीयता (Territoriality) – यानि कि मानव समाज अलग-अलग निश्चित भौगोलिक सीमाओं वाले राजनीतिक समुदायों में संगठित है।
- 2) संप्रभुता – अपनी भौगोलिक सीमाओं के अन्दर किसी भी राष्ट्र राज्य की सरकार सर्वोच्च एवं सर्वोपरि सत्ता है।
- 3) स्वायत्ता (Autonomy) – राज्य अपने आन्तरिक, राजनीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक क्षेत्रों में स्वायत्ता रखते हैं और उनकी भौगोलिक सीमायें उनके आन्तरिक क्षेत्र को बाहरी विश्व से अलग करती है।

इस तरह से हम यह कह सकते हैं कि वेस्टफेलिया की सन्धि के दो मुख्य सिद्धान्त हैं²–

*असिस्टेंट प्रोफेसर, विकास अध्ययन केन्द्र, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद, 211 002, भारत।

1. अपनी भौगोलिक सीमाओं के अन्दर राज्यों का सम्प्रभु अधिकार होगा तथा सभी समूह एवं संस्थायें राज्य के अधीन होंगी।

2. विभिन्न राज्यों के मध्य सम्बन्ध राज्यों की संप्रभु स्तंत्रता एवं समानता पर आधारित है।

इस सन्धि के उपरान्त, विश्व स्तर पर राष्ट्र राज्य प्रमुख कर्ता के रूप में स्थापित हुईं लेकिन धीमे-धीमे जैसे यूरोपीय उपनिवेशवाद विश्व में स्थापित हुआ वैसे-वैसे हर स्थान पर राष्ट्र व्यवस्था स्थापित होती गई और यूरोपीय औपनिवेशिक शासन की समाप्ति के उपरान्त स्वतन्त्र राष्ट्र राज्य स्थापित हुए। यूरोप के उपरान्त पहले उत्तर अमेरिका उसके बाद दक्षिण अमेरिका और 20वीं शताब्दी में द्वितीय विश्व युद्ध के उपरान्त एशिया एवं अफ्रीका में उपनिवेशीकरण की प्रक्रिया पूरी होने के साथ पूरे विश्व में स्वतंत्र संप्रभु राष्ट्र राज्य व्यवस्था स्थापित हो गयी। यँ कहा जाय कि अंतर्राष्ट्रीय राजनीति वास्तव में अंतर्राष्ट्रीय हो गयी, पूर्व की तरह सिर्फ यूरोपीय राजनीति नहीं रह गयी।

आधुनिक राष्ट्र राज्य के चार प्रमुख तत्व बताये गये हैं – 1) निश्चित भू क्षेत्र, 2) उसकी आबादी (Population) 3) संप्रभुता एवं 4) सरकार। 1933 के मोन्टेविडियो कन्वेंशन के अनुसार किसी भी राज्य की चार प्रमुख विशेषतायें होती हैं³।

1) एक निश्चित भू क्षेत्र, 2) एक स्थायी आबादी, 3) एक प्रभावशाली सरकार और 4) अन्य राज्यों के साथ सम्बन्धों को स्थापित करने की क्षमता।

वैसे तो राष्ट्र की अवधारणा एक सामाजिक एवं सांस्कृतिक अवधारणा है जो कि नस्ल, भाषा एवं धर्म के आधार पर संगठित माना जाता रहा है, परन्तु 18वीं शताब्दी भू क्षेत्रीय राजनीतिक इकाईयों का एक राष्ट्रीय स्वरूप सामने आने लगा था। अतः हम आज राष्ट्र राज्य को एक स्वायत्त राजनीतिक समुदाय कह सकते हैं जो कि एक समान भू क्षेत्र में निवास करने वालों में नागरिकता के आधार पर राष्ट्रियता की भावना उत्पन्न करता है, भले ही इनमें सांस्कृतिक एवं प्रजातीय विविधता विद्यमान क्यों न हो।

द्वितीय

वैश्वीकरण को प्रायः शीत युद्ध काल की समाप्ति के उपरान्त आये उदारीकरण और निजीकरण एवं विश्व अर्थव्यवस्था के एकीकरण की प्रक्रिया के साथ जोड़कर देखा जाता है। वास्तव में वैश्वीकरण की प्रक्रिया सिर्फ 20वीं शताब्दी की प्रक्रिया नहीं है बल्कि सैद्धान्तिक रूप से इसकी जड़ें वसुधैव कुटुम्बकम् के सिद्धान्त में निहित पायी जाती हैं, जिसका अर्थ यह है कि पूरा संसार भगवान के परिवार का अंग है। आर्थिक रूप से वैश्वीकरण की शुरुआत सिल्क मार्ग की स्थापना के साथ माना जाता है। आधुनिक काल में वैश्वीकरण का प्रारम्भ कोलम्बस की अमेरिका के खोज के साथ हुआ। इसके उपरान्त वैश्वीकरण के विकास का विश्लेषण अलग अलग ढंग से निम्नलिखित रूप में किया गया है –

- 1) रोलेन्ड रोबर्टसन ने यूरोप में वैश्वीकरण के उद्भव के पाँच चरणों को रेखांकित किया है—⁴
 - प्रथम चरण— 1400—1750
 - द्वितीय चरण— 1750—1875 — अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में अंतर्राष्ट्रीयवाद का उदय
 - तृतीय चरण — 1875—1925 — वैश्वीकरण की प्रक्रिया में गति आना संचार की प्रक्रिया में विकास के साथ।

- चतुर्थ चरण – 1925–1969 – वर्चस्व का संघर्ष जिसके अंतर्गत द्वितीय विश्व युद्ध का होना, आणविक हथियारों का विकास।
 - पंचम चरण – 1969 से शीतयुद्धोत्तरकाल – जिसके अंतर्गत वैश्विक दूर संचार साधनों का विकास हुआ।
2. डेविड हेल्ड, ए. मैकग्रीयू, डी. : गोल्डबलाट, एवं जे. पेराटन द्वारा सम्पादित पुस्तक “ग्लोबल ट्रांसफार्मेशनस : पालिटिक्स, इकनॉमिक्स एण्ड कल्चर” (1999) में वैश्वीकरण के चार चरणों का उल्लेख किया गया है⁵–
- पूर्व आधुनिक (1500 ए.डी. के पूर्व)
 - प्रारम्भिक आधुनिक (1500 ए.डी. –1850) – पश्चिम का उदय एवं यूरोपीय लोगों का अमरीका, एशिया, अफ्रीका एवं अन्य क्षेत्रों में पहुँचना।
 - आधुनिक वैश्वीकरण – (1850–1945)– वैश्विक जाल का तेजी से विकास एवं और संस्कृतियों का प्रवाह, यूरोपीय शक्तियों विशेषकर ब्रिटेन के अधीन।
 - समकालीन वैश्वीकरण – जिसमें राष्ट्र राज्य व्यवस्था एवं क्षेत्रीय और वैश्विक संस्थाओं का विकास, अमरीका और यूरोप के नियन्त्रण में।
3. रोबी राबर्टसन ने अपनी पुस्तक “द थ्री वेब्स ऑफ ग्लोबलाइजेशन” में वैश्वीकरण के तीन चरणों की बात कही है। उनके अनुसार ये तीन चरण हैं⁶–
- प्रथम चरण – कोलम्बस की 1492 में अमरीका की खोज से लेकर 18वीं शताब्दी में औद्योगिक क्रान्ति तक।
 - द्वितीय चरण – अट्टारहवीं शताब्दी की औद्योगिक क्रान्ति के साथ प्रारम्भ हुआ तथा उसका अंत दूसरे विश्व युद्ध तक
 - तीसरा चरण – दूसरे विश्व युद्ध के उपरान्त से अब तक।
- इस तीसरे चरण को हम शीत युद्ध काल के अन्त तक सीमित कर, उसके उपरान्त वैश्वीकरण के चौथे चरण को जोड़ सकते हैं जो कि 1989 में शीत युद्ध के अंत के उपरान्त शुरू हुआ।
- इसके पूर्व कि हम राष्ट्र राज्य के ऊपर वैश्वीकरण की प्रक्रिया के प्रभाव का विश्लेषण करें यह उपयुक्त होगा कि हम वैश्वीकरण के अर्थ को स्पष्ट करें। वैश्वीकरण की प्रक्रिया का अर्थ हम उसकी विभिन्न विशेषताओं के आधार पर समझ सकते हैं।
- जॉन बेलिस एवं स्टीव स्मिथ ने वैश्वीकरण को विभिन्न समाजों के बढ़ते हुए जुड़ाव के साथ जोड़कर देखा है। वही एंथोनी गिडेंस ने अपनी पुस्तक ‘द कान्सीक्वेस आफ माडर्निटी’ में वैश्वीकरण की विशेषता विश्व में बढ़ती हुयी अन्योन्याश्रयिता तथा पारस्परिकता बताया है। वहीं डी. हार्वे ने स्थान और समय की बदली हुई अवधारणा के साथ जोड़कर देखा है। वहीं जेम्स रोजेनाउ ने विश्व में आयी तकनीकी क्रान्ति को वैश्वीकरण के कारण आयी अंतरनिर्भरता तथा पारस्परिकता का आधार बताया है। जबकि मैलकम वाटर्स ने राष्ट्र राज्यों की भौगोलिक सीमाओं की बढ़ती हुयी निरर्थकता बताया है। वहीं राबर्ट गिलपिन ने वैश्वीकरण को विश्व की अर्थव्यवस्था के एकीकरण के साथ जोड़कर देखा है। वहीं जोसेफ स्टिगलिटज ने वैश्वीकरण के अंतर्गत विचारों एवं ज्ञान का प्रवाह, संस्कृतियों का आदान-प्रदान एवं नगरीय समाज की भूमिका पर जोर दिया है।

उपरोक्त परिभाषाओं एवं विशेषताओं के आधार पर हम वैश्वीकरण को इस प्रकार परिभाषित कर सकते हैं कि यह एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके विश्व के विभिन्न राष्ट्रों के बीच तकनीक और प्रौद्योगिकी के विकास, आर्थिक एकीकरण तथा सूचना, ज्ञान एवं विचारों के प्रवाह के कारण एक ऐसी अंतरनिर्भरता एवं पारस्परिकता का विकास हो रहा है जिसमें राष्ट्रों की सीमा तथा समय एवं स्थान के बंधन का कोई अर्थ नहीं रह गया है।^{१०}

तृतीय

अगर हम आधुनिक राष्ट्र राज्य एवं आधुनिक वैश्वीकरण के बीच सम्बन्ध का विश्लेषण आरम्भ करें तो सर्वप्रथम हम यह पायेंगे कि दोनों का उद्भव एवं विकास लगभग एक साथ हुआ। जैसे कि उपरोक्त में विभिन्न विद्वानों ने आधुनिक वैश्वीकरण का उद्भव सन् 1492 में अमरीका के खोज के साथ माना है, वहीं आधुनिक राष्ट्र राज्य का उद्भव भी 15—16वीं शताब्दी के साथ माना गया है।

वेस्टफेलिया की सन्धि ने राष्ट्र राज्य व्यवस्था को यूरोप में स्थापित किया और आगे चल कर विश्व के विभिन्न क्षेत्रों में स्वतंत्र राष्ट्र राज्य की स्थापना के उपरान्त अंतर्राष्ट्रीय जगत में स्वतंत्र संप्रभु राज्य व्यवस्था की स्थापना का आधार बनी।

वैश्वीकरण की प्रक्रिया के विकास को गति प्रदान करने से यूरोपीय पूँजीवाद, उपनिवेशवाद एवं साम्राज्यवाद की अहम् भूमिका रही है। जैसे—जैसे यूरोपीय उपनिवेशवाद का प्रसार विश्व के विभिन्न क्षेत्रों में हुआ वैसे यूरोपीय राष्ट्र राज्य व्यवस्था भी उन क्षेत्रों में स्थापित होती गयी और उन क्षेत्रों में स्वतन्त्रता उपरान्त आधुनिक स्वतन्त्र राष्ट्र राज्य स्थापित हुए। अतः हम आधुनिक वैश्वीकरण का प्रारम्भ एवं विस्तार, आधुनिक राष्ट्र राज्यों की स्थापना एवं यूरोपीय उपनिवेशवाद एवं पूँजीवाद के विस्तार को एक साथ जोड़कर देखा जा सकता है।

यूँ कहा जाय तो यूरोपीय उपनिवेशवाद एवं साम्राज्यवाद की पूरे विश्व के विभिन्न क्षेत्रों में आपसी संपर्क स्थापित करने में भी महत्वपूर्ण भूमिका रही। द्वितीय विश्व युद्ध के उपरान्त आयी तकनीकी क्रान्ति ने विश्व के इस जुड़ाव को और बढ़ाते हुए जिस अन्योन्याश्रयिता, पारस्परिकता एवं अंतरनिर्भरता को विभिन्न राष्ट्र राज्यों के बीच स्थापित किया उससे वैश्वीकरण की प्रक्रिया को एक नया आयाम दिया। तथा शीतयुद्ध के उपरान्त वैश्वीकरण को नयी विश्व व्यवस्था का आधार माना जाने लगा। उसके उपरान्त आर्थिक एकीकरण की प्रक्रिया का जिस तेज गति से विस्तार हुआ आर्थिक उदारीकरण, निजीकरण एवं खुली मुक्त बाजार व्यवस्था के बढ़ते हुए विस्तार एवं प्रभाव के कारण, उसने समकालीन विश्व में वैश्वीकरण बनाम राष्ट्र राज्य की ज्वलन्त बहस को जन्म दिया।

इस बहस के दौरान तीन प्रकार के मत सामने आये।^{११} पहला मत तो उन लोगों का था जो वैश्वीकरण को एक ऐसी नाव मानते थे जिससे सबका उद्धार होगा अतः इस प्रक्रिया के बढ़ते हुए विस्तार को देखते हुए उन्होंने राष्ट्र राज्य की भौगोलिक सीमाओं के बन्धनों की समाप्ति की घोषणा करते हुए यह तक कह दिया कि राष्ट्र राज्य का अन्त हो गया है। इन्हें हाईपरग्लोबलाईजर्स के नाम से जाना गया। इसके प्रमुख प्रवर्तक ओहम एवं शेल्ट थे।

वहीं दूसरी तरफ वो विद्वान थे जो इस मत से बिल्कुल सहमत न थे और उन्होंने वैश्वीकरण के बढ़ते हुए प्रभाव के बीच तर्क दिया कि राष्ट्र राज्य का स्थान कोई संस्था नहीं ले सकती और यह विश्वास जताया कि राज्य एवं भू-राजनीति वो प्रमुख शक्तियाँ होंगी जो हमेशा विश्व व्यवस्था को मूर्त रूप देंगी। इसके प्रमुख प्रवर्तक राबर्ट गिलपिन और स्टाफेन क्रैस्नर थे।

इन दोनों तर्कों के बीच एक तीसरा तर्क यह आया कि न हाईपर ग्लोबलाइजर्स का तर्क सही है न ही संशयवादियों या स्केपटिक्स का तर्क सही है। बल्कि दोनों के बीच का रास्ता निकालते हुए इस मत के प्रवर्तकों ने यह तर्क दिया कि न तो संप्रभु राष्ट्र राज्य का अन्त हो रहा है न ही वैश्वीकरण की प्रक्रिया को नजरअन्दाज किया जा सकता है। उनका यह तर्क था कि वैश्वीकरण के प्रभाव में वर्तमान राष्ट्र राज्य की प्रकृति एवं भूमिका में निश्चित बदलाव एवं परिवर्तन आया है। इन्हें परिवर्तनवादी या ट्रांसफार्मेशनलिस्ट की संज्ञा दी गयी। बॉब जीसप ने राज्य के बजाय शुम्पीटर के प्रतिस्पर्धा राज्य से की है। जेम्स रोजेनाउ ने वर्तमान वैश्वीकृत विश्व में राज्य की बदली हुई भूमिका को स्वीकारा है। यही बात सोरेन्सन ने भी कही है। राबर्ट काक्स के अनुसार राज्य का अन्तर्राष्ट्रीयकरण हुआ है। यूरोपीय संघ का उदाहरण देते हुए कूपर ने उत्तर आधुनिक राज्य की परिकल्पना प्रस्तुत की है।¹⁰

11 सितम्बर 2001 को हुए वर्ल्ड ट्रेड सेन्टर पर आतंकवादी आक्रमण ने शीतयुद्धोत्तर विश्व को राज्य रूपी संस्था की आवश्यकता की याद दिलायी। इस घटना ने विश्व को सुरक्षा सम्बन्धित विषयों की एक सीमा तक सदैव प्राथमिकता बनी रहने के तथ्य से पुनः अवगत कराया। तथा वैश्वीकरण बनाम राष्ट्र राज्य की बहस में एक नया मोड़ आया। अब राष्ट्र राज्य के अन्त के बजाय राज्य की वापसी की बात कही जाने लगी।¹¹

2008 के आर्थिक संकट ने भी विश्व को निर्बाद्ध आर्थिक वैश्वीकरण के खतरों से अवगत कराया तथा राष्ट्र राज्य के आर्थिक क्षेत्र में एक सीमा तक भूमिका होने के तथ्य को बल प्रदान किया। मुक्त व्यापार एवं खुले बाजार पर आधारित अर्थ व्यवस्था में भी राज्य की एक नियामक, नियंत्रक एवं समन्वयक संस्था के रूप में आवश्यकता को उजागर किया।

उसी समय विश्व के सबसे सफल क्षेत्रीय संगठन, यूरोपीय संघ के अन्दर आये वित्तीय संकट ने आज के वैश्वीकृत, उदार एवं निजीकरण पर आधारित अर्थ व्यवस्था में राज्य की भूमिका की याद पूरे विश्व को दिलायी।

अतः वैश्वीकरण एवं राष्ट्र राज्य की जो बहस 20वीं शताब्दी एवं 21वीं शताब्दी में शुरू हुई है, उसमें निष्कर्ष रूप में हम यह कह सकते हैं कि वैश्वीकरण को शीत युद्धोत्तर काल की प्रक्रिया के रूप में देखना एवं राष्ट्र राज्य एवं वैश्वीकरण को विरोधी अवधारणायें मानना भ्रान्तिपूर्ण मान्यतायें हैं। बल्कि हम यह कह सकते हैं कि वैश्वीकरण की प्रक्रिया की आधुनिक काल में यूरोपीय उपनिवेशवाद, साम्राज्यवाद एवं पूंजीवाद के साथ राष्ट्र राज्य एवं संप्रभु स्वतंत्र राष्ट्र राज्य व्यवस्था की स्थापना में महत्वपूर्ण भूमिका रही है।

शीत युद्धोत्तर काल में उदारीकरण और निजीकरण के बढ़ते हुए प्रभाव में समकालीन वैश्वीकरण के युग में भी राष्ट्र राज्य की भूमिका समाप्त नहीं हुई है। बल्कि निश्चित रूप से कुछ हद तक परिवर्तित अवश्य हुई है। अभी भी राज्य की न केवल कानून व्यवस्था में राष्ट्रीय सुरक्षा को बनाये रखने की संस्था के रूप में बल्कि आर्थिक क्षेत्र में भी एक नियामक नियंत्रक एवं समन्वयक संस्था के रूप में महत्वपूर्ण भूमिका है।

टिप्पणी व सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

- ¹ जॉन बेलिस, स्टीव स्मिथ एवं पैट्रीशिया ओवेन्स, (संपा.) "दि ग्लोबलाइजेशन ऑफ वर्ल्ड पॉलिटिक्स : एन इण्टोडक्शन टू इण्टरनेशनल रिलेशन्स , आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली, 2011, पृ. 23
- ² ऐन्ड्र्यू हेवुड, ग्लोबल पॉलिटिक्स, पैलग्रेव मैक्मिलन, नई दिल्ली, पृ. 5
- ³ वही, पृ. 112
- ⁴ जॉन बेनान एवं डेविड डंकर्ली (संपा.), दि ग्लोबलाइजेशन : दि रीडर, रावत पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, 2012, पृ. 9
- ⁵ वही, पृ. 10
- ⁶ ग्रेग ब्यूकमैन, ग्लोबलाइजेशन : टेम इट ओर स्क्रेप इट', बुक्स फॉर चेंज, बैंगलूरु, पृ. 6-7
- ⁷ के. के. मिश्रा एवं सुभाष शुक्ला, अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के सिद्धान्त, अनामिका पब्लिशर्स, नई दिल्ली, 2011, पृ. 175-177
- ⁸ वही, पृ. 177
- ⁹ क्रम.1, पृ. 20
- ¹⁰ क्रम.2 पृ. 118-120
- ¹¹ वही, पृ. 121-22

आई.एस.एस.एन. संख्या : 2454-2458

नवरचना NAVRACHNA

www.grefiglobal.org/journals/navrachna.2018

वर्ष 4, अंक 1-2, जून-दिसम्बर 2018, पृ. 26-38

आर.के. नारायण के उपन्यासों में सशक्त और निर्बल स्त्री

प्रीति तिवारी*

सामाजिक संरचना के अध्ययनों एवं अवलोकनों के आधार पर यह देखा गया है कि स्त्रियाँ चाहे सबल रही हों या निर्बल, दोनों ही परिस्थितियों में वे किसी न किसी प्रकार से पितृसत्तात्मक समाज और पुरुष वर्चस्व से अलग नहीं रह पायी हैं। पितृसत्तात्मक समाज ने इस प्रकार स्त्री पर अपना अधिकार पाने में सफलता प्राप्त की और आज भी किसी न किसी क्रम में वह उन्हें अधीन बनाने के प्रकरण में सफल देखा जाता रहा है। इस बात से बिल्कुल भी इंकार नहीं किया सकता कि समाज में ऐसी स्त्रियाँ बिल्कुल भी नहीं रही हैं जिन्होंने अपना स्वर नारी उत्पीड़न, शोषण और अधिकार के खिलाफ न उठाया हो। यदि ऐसा न होता तो शायद आज हम स्त्री अध्ययन या नारीवादी धारा को जन्म ही न दे पाते। यह कार्य यदि हम कहें कि केवल स्त्री के प्रयास से हुआ तो बात बिल्कुल असहज सी लगती है, बल्कि उनकी आवाज को बाहर लाने और समाज के हर स्तर पर पहुंचाने में नारीवादी दृष्टिकोण रखने वाले पुरुषों का भी सहयोग रहा है।

हम आज अपने नारीवादी आन्दोलनों, मांगों के माध्यम से स्त्री को एक ऐसी स्थिति तक ला पायें है कि उन्हें निर्बल से सबल बनाया जा सके और उन्हें उनका उचित अधिकार प्राप्त हो सके। अथक प्रयासों एवं आन्दोलनों के बाद भी स्त्री की स्थिति आज के संदर्भ में पूरी तरह सुधर नहीं सकी है, बल्कि आज भी एक बहुत बड़ा हिस्सा इन नारीवादी सुधारों एवं आंदोलनों से रहा अछूता है और पितृसत्ता की जंजीरों में जकड़ा हुआ है। आज भी स्त्रियाँ शोषण की स्थिति में जी रही हैं। निर्बल और सबल स्त्री का सवाल केवल आज के ही संदर्भ में समझना उचित नहीं होगा, बल्कि हमें आमूल परिवर्तन लाना है तो इतिहास के पन्नों को हमें पुनः से व्याख्यापित करने की जरूरत है। इनमें हमारे अनेकों धार्मिक सांस्कृतिक ग्रंथों और समाज का आड़ना प्रस्तुत करने वाले साहित्य की एक बड़ी श्रंखला मौजूद है। यद्यपि प्रस्तुत शोध पत्र में मेरा मुख्य प्रयास आर.के.नारायण के चयनित उपन्यासों में सबल और निर्बल स्त्रियों को ढूंढने का प्रयास होगा।

साहित्य चूंकि अन्य लेखों एवं ग्रन्थों की तरह अतीत को समझाने में मदद करता है, इसलिए इनकी उपयोगिता को नकारा नहीं जा सकता है। जैसा कि हम जानते हैं कि साहित्य को समाज का

*शोध छात्रा, सेन्टर फॉर डेवलेपमेन्ट स्टडीज, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद-211 002 उ.प्र.।

दर्पण कहा जाता है, इस दृष्टि से यह बात अनिवार्य हो जाती है कि हम इन साहित्यों को एक नये सिरे से समझे और नारीवादी दृष्टिकोण से नारी प्रश्नों को आज के संदर्भ में उदाहरण के तौर पर पेश कर सकें।

आर.के. नारायण अपनी इच्छाशक्ति और अनुभवों के आधार पर समाज के सूक्ष्म बिन्दुओं को बहुत ही सुंदर ढंग से प्रस्तुत करने में सफल पाये गये हैं। उन्होंने अपने उपन्यासों में स्त्री के हर पक्ष को बखूबी चित्रित किया है तथा एक स्त्री का जीवन किन-किन पक्षों से प्रभावित होता है, उसको भी प्रस्तुत करने का सफल प्रयास किया है। नारायण के बारे में यह भी माना जाता है कि उनके पात्र उनके निजी अनुभवों और सामाजिक स्थिति को दर्शाने में हमेशा ही कामयाब रहे हैं।

जैसा कि कुमकुम सांगरी और सुदेश वैद्य एंग्लो-भारतीय साहित्य के बारे में बताते हैं कि एंग्लो-भारतीय साहित्य वास्तव में एक प्रकार से भारतीय साहित्य की उपसंस्कृति है जिसका अस्तित्व भारत में ब्रिटिश लोगों की उपस्थिति के फलस्वरूप आया, और इस प्रकार का साहित्य सिद्धान्त रूप में मुख्य साहित्य में भारतीय-ब्रिटिश के कार्य का सम्मिलित स्वरूप है। इस तरह से वह यह भी मानते हैं कि हमारी संस्कृति का लगातार विकास हुआ है और वह यूरोपियन सम्राज्यवाद एवं औपनिवेशवाद के नुकसान पहुँचाने वाले पक्षों के विरुद्ध खड़ा भी हुआ है।

आज हम जो भी भारतीय अंग्रेजी साहित्य देख पा रहे हैं, वह बंगाली भद्रलोक या सम्मिलित लोगों के प्रयास एवं दबाव के फलस्वरूप सामने आये। सशक्त और कमजोर स्त्री के पक्ष को जानने के लिए जैसा कि थारू अपने लेख *Tracing Savitri's Pedegree* में बताती है कि यह आवश्यक और अनिवार्य हो जाता है कि हम अंग्रेजी-भारतीय साहित्य की घड़कन का समझने के लिए उस ज्ञान का प्रयोग करें जो कि उन पक्षों को सामने ला सकें और हम समाज और साहित्य की वास्तविकता को समझ सकें। सशक्त नारी के परिप्रेक्ष्य में यदि देखें तो यह कहा जा सकता है कि यहां उन नारियों का चित्रण समझा जाये जो कि स्वयं पितृसत्तात्मक संरचना के विरोध में खड़ी हुई हैं और उसका सामना अपनी तार्किक शक्ति से डटकर करती हैं। निर्बल स्त्रियों के संदर्भ में जब हम बात करते हैं तो उन स्त्रियों का रूप उभरकर सामने आता है जो पितृसत्तात्मक संरचना के अन्तर्गत जीवन के हर पक्ष में अधीन स्थिति में पायी जाती हैं और इसके विरोध में खड़े होने का साहस नहीं कर पाती है। इस आधार पर सामाजिक संरचना को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है, सशक्त में उन स्त्रियों की भूमिका को समझना आवश्यक जो कि पितृसत्ता द्वारा निर्मित एवं निर्धारित संस्थाओं, प्रतिबन्धों, कर्मकाण्डों के विरुद्ध अपनी आवाज देने में सक्षम हो पाती हैं। यह बात भी उतनी ही सही है कि समाज में हमेशा उन स्त्रियों का अस्तित्व देखा गया है जो कि इन संस्थाओं के बंधन से अपने आप को अलग कर सकी और इनके विरुद्ध खड़ी होकर न्याय और समानता की मांग के लिए अपने स्वर बुलंद कर सकी। दूसरी तरफ यह बात भी उतनी ही सही है कि वे स्त्रियां भी हमेशा से समाज का अभिन्न अंग रही हैं जिन्होंने पितृसत्तात्मक संरचना के सामने अपने आपको समर्पित कर दिया और चाहे, अनचाहे तरीकों से पितृसत्तात्मक संरचना का भाग बन गयी। यहां पर आर.के. नारायण अपने उपन्यासों के माध्यम से स्त्री जीवन के विभिन्न पक्षों को प्रस्तुत करने में सक्षम रहे हैं। परन्तु इन उपन्यासों में ज्यादातर पितृसत्तात्मक संरचना में रहने वाली स्त्रियों का चित्रण किया गया है जो कि पितृसत्तात्मक संरचना के विरुद्ध जाने में अक्षम पायी जाती हैं। इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता है पिछले दो सौ सालों में हमारी संस्कृति का लगातार विकास तो हो रहा है परन्तु यह यूरोपीय

साम्राज्यवाद और औपनिवेशवाद के उन पक्षों को हटाने में अक्षम रहा जिनसे कि हमारे समाज एवं साहित्य पर दुष्प्रभाव पड़ा। ब्रिटिश शासन की आर्थिक संरचना और राजनीतिक संरचना ने निश्चित रूप से हमारी परम्परागत संस्थाओं और हमारे दैनिक कार्य-कलापों से संबंधित मूल्यों को विचलित किया जो कि सामाजिक दृष्टि से हमारी एकता के लिए उपयुक्त थे। विक्टोरियन मिथकों में भी स्त्री की लौकिक पवित्रता पर बल दिया जाता देखा गया है।

विक्टोरियन लेखक भी यौनिक प्रतिबन्धों पर व नैतिकता के उत्थान को अधिक महत्व देते हैं तथा यह भी मानते हैं कि स्त्रियों की यौनिक उत्तेजना को सही तरीकों से न नियंत्रित किया गया तो यह समाज के लिए खतरनाक हो सकता है। एक स्त्री जो कि एक पुरुष की उत्तेजना के विरुद्ध खड़ी होती है, तो उसे प्राकृतिक रूप में पवित्र माना जाता है। एक स्त्री की पवित्रता ईश्वर की पवित्रता है यह एक दैवीय प्रकाश को फैलाने वाली मानी जाती है (Sangiri and Sudesh Vaid 1989)।

यदि उपरोक्त संदर्भ में आर.के. नारायण के उपन्यास 'अंधेरा कमरा' और 'द गाइड' के संदर्भ में रखकर विश्लेषण किया जाये तो यह स्पष्ट होता है, कि किस तरह से सावित्री जो कि 'अंधेरा कमरा' की मुख्य स्त्री-पात्र है, हमेशा पवित्रता को लेकर चलती है, और अपने पति द्वारा धर्म पत्नी का स्थान प्राप्त करती है। ठीक इसी प्रकार से स्त्री का यही चित्रण 'द गाइड' में राजू की मां के द्वारा भी प्रस्तुत होता है और वह कहती है कि पत्नी धर्म पति की सेवा और उसके अनुसार चलने में ही है। ठीक इसी प्रकार का चित्रण 'कला स्नातक' उपन्यास में मुख्य किरदार चंद्रन की मां द्वारा भी देखने को मिलता है जो कि मानती है कि पति-पत्नी की जोड़ियां ईश्वर द्वारा बनायी जाती है और वही तय करता है कि कौन किसकी पत्नी और किसका पति होगा।

आर.के. नारायण के उपन्यास 'अंधेरा कमरा' के बारे में कहा जाय तो सावित्री का चित्रण चरित्रवान, पवित्र, शक्तिहीन, निःस्वार्थ प्रेम, कष्टों को सहने वाली और हमेशा धर्मपत्नी के आदर्शों का पालन करने वाली और अपने पति की हमेशा उन्नति सोचने वाली दिखाई गई है।

आर्थिक आधार पर स्त्री की स्थिति

निर्णय की स्थिति का यदि अवलोकन किया जाये तो इसका मुख्य आधार आर्थिक माना जा सकता है। यहां पर स्त्री के आर्थिक रूप से स्वतंत्र न होना उसे सबल और निर्बल की स्थिति में ला खड़ा कर देता है। एक स्त्री के सबल और निर्बल अवस्था सामाजिक और आर्थिक कारणों पर निर्भर करती है, जिसमें कि धार्मिक व्यवसाय और सांस्कृतिक पक्षों का भी सहयोग देखा जाता है और ऐसी स्थिति में स्पष्ट लिंग अवस्था की कल्पना कर पाना बहुत कठिन हो जाता है। (Jain and Mahan 1996)

जैसा कि नेहरू खुद भी स्त्री के विभिन्न पक्षों की बात करने के साथ-साथ स्त्री की आर्थिक आत्मनिर्भरता पर भी बल देते हैं, और मानते हैं यह आर्थिक आत्म निर्भरता स्त्री को सबल बनाने में निश्चित ही सक्षम होगी। जैसा कि 1936 में नेहरू अपने एक सम्बोधन में कहते हैं कि स्त्री की स्वतंत्रता राजनीतिक स्थिति से ज्यादा आर्थिक स्थिति पर निर्भर करती है, और यदि एक स्त्री आर्थिक रूप से स्वतंत्र नहीं है और खुद से कमाने वाली नहीं है तो उसे अपने पति या अन्य व्यक्ति पर निर्भर होना ही पड़ेगा और निर्भरता कभी स्वतंत्रता प्रदान नहीं करती है। नेहरू का आर्थिक पक्ष पर बल स्त्री मुक्ति और स्वतंत्रता के सारे प्रश्नों का उत्तर प्रदान करती है। और यदि वे आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर है तो उनका विकास होना तय है और वे अपनी समस्याओं को निवारण करने में सक्षम होगी।

आर.के. नारायण के उपन्यास 'द डार्क रूम' के प्रारम्भ में एक जगह सावित्री अपने पति रमणी से कहती है कि मेरे पास पैसे खत्म हो गए हैं, शाम के लिए सब्जी खरीदनी है। इस पर रमणी सावित्री को एक रूपया देकर कहता है कि एक रूपये से काम चलेगा? और वे रूपया देकर चल देते हैं। यहाँ पर सावित्री बगैर कुछ कहे हुए रमणी को अपने गैरेज से कार निकालते हुए निहारती नजर आती है जो कि निश्चित ही उसकी निर्बलता को बयान करती है क्योंकि वह एक बार भी यह नहीं कह पाती है कि एक रूपया शाम की सब्जी के लिए पर्याप्त है या नहीं। यह सावित्री के दबू होने का भी प्रतीक है वहीं दूसरी ओर सावित्री की सहेली गंगू अपने पति को पूरी तरह से अपने नियंत्रण में रखती है। यहाँ पर सावित्री की निर्बलता इस आधार पर है कि वह हमेशा अपने पति रमणी द्वारा ही नियंत्रित की जाती है, जबकि गंगू अपने पति पर नियंत्रण रखने में सक्षम रहती है।

सावित्री चूँकि आर्थिक रूप से पूरी तरह अपने पति रमणी पर आश्रित थी जिसके कारण उसे किसी बात का निर्णय का कोई अधिकार न था और प्रायः हार कर वह अपने घर में भंडार के पास वाले अंधेरे कमरे में चली जाती थी, जो कि उसकी निर्बलता का सबसे बड़ा उदाहरण माना जा सकता है।

उपन्यास में जब नौकरों के संदर्भ में बात आती है तो बात स्पष्ट हो जाती है कि न तो वे आर्थिक और न ही शैक्षणिक आधार पर सबल है। रंगा जो कि सावित्री के यहाँ लकड़ी चीरने का काम करता था, बताता है कि उसने किसी कारण वश अपने पुत्र की एक बार पिटाई कर दी तो उस पर उसकी पत्नी अपने हाथ में लिए हुए पीतल के बरतन से उसकी पिटाई कर देती है। इस पर वह कहता है कि तब से मैं बच्चों के मामले में दखल नहीं देता हूँ। चाहे वे कुएं में गिर जायें। औरत का मामला बड़ा बेदब होता है। जब कि वहीं पर दूसरी तरफ सावित्री का रसोइया बताता है कि वह अपनी पत्नी की किसी भी दखलदांजी पर उसकी हड्डी-पसली एक कर देता है। यहाँ पर दोनों की स्थिति में एक की पत्नी सबल और दूसरे की पत्नी निर्बल पायी जाती है। "सावित्री अपनी निर्बल स्थिति का बयान करते हुए कहती है कि असल में हमारी इस हालात के लिए हम खुद जिम्मेदार है। हम स्त्रियां आप पुरुषों का दिया हुआ भोजन, आश्रय और दूसरी सुविधाएं स्वीकार करती है और इसी से हमारी यह हालत है।

यदि अब नारायण के उपन्यास 'द गाईड' की स्त्री-स्थिति का सबलता एवं निर्बलता के आधार पर अवलोकन करें तो पता चलता है रोजी जो कि उपन्यास की मुख्य पात्र है अपनी नृत्य कला के माध्यम से एक आर्थिक रूप से मजबूत स्त्री बन जाती है जो उसे आर्थिक रूप से सबलता का अनुभव तो प्रदान करता है परन्तु वह इस स्थिति में आत्म-संतुष्टि प्राप्त करने में सक्षम नहीं महसूस करती है, जिसका कारण उसका उसके पति के प्रति गहरा लगाव माना जा सकता है। एक तरफ वह अपनी इच्छा पूर्ति के लिए अपने पति से अलग होती है और वहीं दूसरी तरफ एक धनवान स्त्री की स्थिति को प्राप्त कर लेना उसे सबल तो बना देता है लेकिन उसका मार्को के प्रति लगाव और पत्नी धर्म की इच्छा उसे निर्बल भी बनाता है। इस प्रकार से वह सबलता और निर्बलता दोनों ही प्रकार की स्त्री का चित्रण विरोधाभासी रूप से प्रस्तुत करती है।

दूसरी निर्बल स्त्री का चित्रण राजू की मां का है जो परम्परागत जीवन यापन में विश्वास रखती है। वह राजू के द्वारा कमाये हुए धन से ही अपना जीवन निर्वाह करती है। वह आत्म निर्भर न होने की वजह से निर्बल स्त्री का चित्रण ही प्रस्तुत करती है।

स्त्री की शिक्षा के आधार पर स्थिति

स्त्री के सबल और निर्बल होने की स्थिति में उसकी शिक्षा की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। समाज सुधार की परम्परा में नेहरू शिक्षा को एक महत्वपूर्ण आधार मानते हैं, जिसके द्वारा सामाजिक परिवर्तन सम्भव हो सकता है। स्त्री की शिक्षा के महत्व पर वह विशेष बल देते हैं। अपने एक वक्तव्य में बताते हैं कि एक बार पुरुष की शिक्षा को तो नजर अंदाज किया जा सकता है लेकिन यह सम्भव नहीं है कि स्त्री की शिक्षा को नजरअंदाज किया जाये। वे यह भी बताते हैं कि शिक्षा न केवल स्त्री को मां, पत्नी, बहन के भूमिका अपने कार्यों को पूरा करने में अधिक समर्थ बनायेगी अपितु उन्हें आर्थिक प्रतियोगी भी बनायेगी। वे स्त्री की शिक्षा को बाधित करने की आलोचना करते हैं। उनके अनुसार एक स्त्री को अच्छी शिक्षा प्रदान की जानी चाहिए, और उन्हें हर व्यवसाय और क्षेत्र में प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए जो कि उनको परम्परागत व्यवसायों और आदर्शों से बाहर अन्य क्षेत्रों तक ले जाने में सक्षम होगा। इस प्रकार से वे स्त्री को उसके लिंग पर आधारित कार्यों से बाहर लाना चाहते थे, और परम्परागत स्त्री भूमिकाओं को तोड़ने में विश्वास करते थे (Jain & Mahan 1996)।

नारायण के उपन्यास 'द डार्क रूम' में गंगू जो कि सावित्री की सहेली है का सपना फिल्म नायिका बनने का था। वह व्यावसायिक संगीतकार भी बनना चाहती थी। इस सब के लिए वह अंग्रेजी को अधिक महत्व देती थी और कहती थी कि केवल अंग्रेजी की पत्रिकाएँ पढ़ लेने या वैवाहिक जीवन के प्रारम्भ में अंग्रेजी पत्र लिख देने जितनी ही जानकारी काफी नहीं है। अंग्रेजी सीखने के लिए उसने ट्यूटर भी नियुक्त कर रखी थी और हर सप्ताह वह दो फिल्मों भी देखती थी, उन्हें ऊंटपटांग बाते करने की आजादी थी और जब चाहे घर से निकल पड़ती थी। जहां इच्छा हो जाती थी और जोर-जोर से बातें करती थी। ये सारी विशेषताएं निश्चित ही तौर पर गंगू को सबल स्त्री की स्थिति में लाने से कोई इंकार नहीं कर सकता है। जबकि दूसरी तरफ सावित्री को जब उनके पति घर पर हो तो उन्हें घर से बाहर जाने की आजादी बिल्कुल नहीं थी। फिल्म तो हमेशा अपने पति के साथ ही देखने का अवसर प्राप्त होता था। यह सब गंगू को सबल स्त्री के रूप में दर्शाता जो कि पितृसत्तात्मक बंधनों से काफी हद तक विरुद्ध कार्य कर सकती थीं लेकिन सावित्री बिल्कुल नहीं। सावित्री की दूसरी सहेली जानम्मा की स्थिति भी सावित्री की तरह पायी गयी है। 'द डार्क रूम' में शांताबाई का चित्रण एक शिक्षित स्त्री का है जो कि अपने बारे में काफी स्पष्टवादी है और सामाजिक संस्थाओं के विरुद्ध खड़ी होते देखी गयी है। उसने अपने पति को, उसके जुआरी, शराबी और व्यसन में लिप्त होने की वजह से त्याग दिया था।

दूसरी तरफ उसने अपने माता-पिता को भी त्याग दिया क्योंकि वे इसके कार्य से खुश नहीं थे। इन परिस्थितियों के बावजूद भी उसने अपनी पढ़ाई जारी रखते हुए अपने दम पर बी.ए. किया। उसके इस प्रकार के कार्यों से यह बात स्पष्ट होती है कि वह पितृसत्तात्मक समाज की चुनौती देती है और स्वनिर्भर होकर अपना स्वतंत्र जीवन व्यतीत करती है।

दूसरी तरफ वह अपनी निर्बलता अपनी इस बात से जाहिर करती है कि 'कौन कहता है कि स्त्रियों के शिक्षा प्राप्त कर लेने से उनका उद्धार हो जाता है, यह निरी बकवास है। ऐसा कुछ नहीं होता। उनके लिए भी नौकरी की समस्या वैसी ही है जैसे पुरुषों के लिए'।

शांताबाई एक तरह से पितृसत्तात्मक संस्थाओं का त्याग कर सबल स्त्री का चित्रण प्रस्तुत करती है, लेकिन दूसरी तरफ शिक्षा प्राप्ति के बाद भी नौकरी न मिल पाने पर निर्बल दिखाई पड़ती

है। अंत में शांताबाई रमणी के दफ्तर में नियुक्त होकर आर्थिक निर्भरता प्राप्त कर लेती है जो कि उसे अपने आप में सबल बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। शांताबाई अपने इच्छानुसार क्लब एवं सिनेमा देखने को स्वतंत्रत थी तथा कहीं भी घूम फिर सकती थी जो कि उसकी सबलता का परिचायक है क्योंकि ये बातें सामान्य स्त्री के द्वारा कर पाना असम्भव था। जैसा कि हमें सावित्री की असहाय स्थिति से पता चलता है कि वह पितृसत्तात्मक समाज के उत्पीड़नों को सहन करती है और हमेशा के लिये अबला की ही स्थिति में ही रह जाती है।

जब सावित्री अपने पति का घर उसके ही दफ्तर में काम करने वाली महिला के साथ प्रेम प्रसंग के कारण क्रुद्ध होकर छोड़ देती है और कहती है कि "अपने बल पर मैं कर ही क्या सकती हूँ। अगर मैंने ठीक-ठीक शिक्षा पायी होती तो अभी टीचर की या ऐसी ही कोई नौकरी पा सकती थी। मैंने अपनी पढ़ाई पूरी न करके मूर्खता की। यहां सावित्री इस प्रकार से अपनी निर्बलता को जाहिर करती है और साथ ही साथ स्व-निर्भरता के लिए शिक्षा के महत्व को भी रेखांकित करती है। अगर वह शिक्षित होती तो आत्म निर्भर होकर स्वतंत्र जीवन बिता सकती थी और अपना मजबूत आधार तैयार कर पाती। नारायण ने जातिगत आधार पर सबल और निर्बल नारी पात्रों को बखूबी चित्रित किया है। उपन्यास में पोन्नि, जो कि एक ताला बनाने वाली की पत्नी है, कहीं पर भी अपने पति से दबती हुई नहीं दिखती, वह हमेशा ही एक मजबूत इरादों के साथ अपने पति का सामना करते दिखायी पड़ती है जबकि सावित्री उच्च जाति की पृष्ठभूमि के बाद भी अधिक उत्पीड़ित दिखायी देती है।

उच्च जाति में स्त्री सबल और निर्बल में विभाजित देखी गई है, जिसमें सावित्री के माध्यम से उच्च जाति में स्त्री उत्पीड़न और स्त्री निर्बलता अधिक स्पष्ट चित्रित है जबकि निम्न जाति में यह उतना कठोर नहीं है। आर.के. नारायण के उपन्यास 'द गाइड' में मुख्य स्त्री पात्र रोजी का संबंध मंदिर में नृत्य करने वाली के खानदान से था। वह वैसे तो संगीत में परास्नातक थी जो कि उसके शिक्षित होने का प्रबल परिचायक है। शिक्षित होने के बाद भी वह पितृसत्तात्मक संरचना के बंधनों से मुक्त नहीं देखी गयी है और एक निर्बल और असहाय स्त्री का ही चित्रण प्रस्तुत करती है। शिक्षित होने के बावजूद उसे अपने पति के विरुद्ध किसी भी चीज का निर्णय लेने का अधिकार नहीं होता है। रोजी की सबसे तीव्र इच्छा एक सफल नृत्यांगना बनने की होती है लेकिन उसकी यह इच्छा पूरी नहीं होती है, इसके लिये जब तक वह अपने पति मार्को से अलग नहीं हो जाती है इसको पूरा कर पाने में अक्षम रही। यहां उसके शिक्षित होने और नृत्य में प्रशिक्षण प्राप्ति के बाद भी निर्बल स्त्री की ही अवस्था में पाया जाती है वह कुछ हद तक तो सबलता का परिचय प्रदान करती है परन्तु पूरी तरह से वह अपने आपको सबल बना पाने में अक्षम रहती है, शायद यह उसके शिक्षित होने का ही परिणाम होता है कि वह अपनी नृत्य की इच्छापूर्ति के लिए अपने पति मार्को से अलग हो पाती है और सामाजिक नियमों के विरुद्ध कदम उठा पाती है। अंत में हम पाते हैं कि वह अपने पति के साथ समझौते के लिए तैयार हो जाती है अर्थात् इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि एक स्त्री की शिक्षा के साथ-साथ उसमें दृढ़ता का होना भी आवश्यक है।

उपन्यास 'कला स्नातक' में मालती जो कि चंद्रन की प्रेमिका थी, निश्चित ही शिक्षित थी। क्योंकि चंद्रन ने उसे एक पत्र में लिखा था कि वह दो साल शादी के लिए इन्तजार नहीं कर सकता है। लेकिन मालती द्वारा इसका कोई उत्तर नहीं आया और उसकी शादी किसी अन्य लड़के से कर दी जाती है। अर्थात् मालती शिक्षित होने के बाद भी इतनी निर्बल थी कि वह अपने प्रेमी चन्द्रन को

उत्तर न दे सकी और अपने माता पिता के अनुसार दूसरे लड़के से शादी कर लेती है। यहां उसकी शिक्षा का उपयोग उसके अपने स्वतंत्र जीवन और निर्णय से कोई लेना-देना न था, बल्कि उसे वैसा ही करना पड़ा जैसा कि उसके घर वाले चाहते थे। जिसमें उसकी इच्छा का कोई महत्व ही नहीं था। अर्थात् वह एक निर्बल स्त्री का संकेत देती है। इस उपन्यास में दूसरी लड़की का चित्रण सुशीला के रूप में मिलता है जो छठी कक्षा में पढ़ रही थी। इसी के साथ चंद्रन का विवाह होना तय हुआ। यहां उसके छठवीं में पढ़ने का अर्थ केवल घर एवं परिवार को अच्छे से संभालने से ज्यादा कुछ भी न था। वह किसी रूप में सबल नहीं पायी गयी है। एक प्रसंग में वह चंद्रन को लिखती है कि वह अपना ध्यान रखें। सुबह जल्दी नहीं उठा करें और उसके कार्य के लिए प्रार्थना करती थी। यह सब उसके लिए एक धर्मपत्नी होने से ज्यादा कुछ नहीं था।

धर्म के आधार पर स्त्री की स्थिति

यदि नारीवादी अध्ययन की बात आती है तो सबसे पहला सवाल होता है स्त्रियां कहां हैं? यदि स्त्री-पुरुष दोनों धार्मिक कार्यों में भाग लेते हैं तो लिंग भेद क्यों? यहां पर स्त्रियों द्वारा सम्पादित धार्मिक कार्यों के आधार पर स्त्री सबलता एवं निर्बलता को लाने का प्रयास किया जायेगा। मुख्य रूप धार्मिक कार्यों में भी उन्हें वहीं कार्य या स्थिति प्रदान की जाती है जो कि परम्परागत आधार पर चला आता रहा है।

जैसा कि डोला कोस्टा नारीवादी शोध के लिए बताती है कि उन कार्यों को समझना अति आवश्यक हो जाता है जो कि किसी वेतन से परे हैं। हमें उन कार्यों को दृश्य बनाना है जो कि दैनिक जीवन में हम देखते हैं जैसे कि घरेलू कार्य, सामुदायिक कार्य, धार्मिक कार्य, लेकिन इन कार्यों को करने वाले और कार्य के मध्य भिन्नता ला पाना बहुत ही कठिन माना गया जिसका कारण लिंग के आधार पर इन कार्यों का घनिष्ठ संबंध बताया जाता है (Heyer- Gray 2000 : 468)।

धार्मिक कार्यों में या धार्मिक अनुष्ठानों में स्त्रियों को कम शारीरिक शक्ति लगने वाले कार्यों में वरीयता दी जाती है, जिसमें कि कुछ धार्मिक पुस्तकों को पढ़ने, हवन सामग्री तैयार करने और प्रसाद वितरण के कार्यों को करती है। धार्मिक अनुष्ठानों के समय स्त्रियों का मुख्य कार्य भोजन का प्रबंध करना और पकाना पाया जाता है जो कि व्यक्तिगत और निजी माना जाता है। सार्वजनिक कार्यों को पुरुषों द्वारा किया जाता है।

स्त्रियां प्रमुख तौर पर धार्मिक कार्यों में पुरुषों के पूरक रूप में अपनी भूमिका अदा करती हैं न कि मुख्य भूमिका में नेतृत्व प्रदान करती हैं। सार्वजनिक कार्यों को वे कम ही करती हैं। इस प्रकार से यह कहा जा सकता है कि धार्मिक कार्यों का बटवारा भी लिंग आधार से परे नहीं है जो कि उनकी सबल और निर्बल की स्थिति को निर्धारित करता है।

नारायण के उपन्यास 'द डार्क रूम' मुख्य स्त्री पात्र सावित्री अपने पति को सुबह दफ्तर के लिए विदा करने के बाद पूजा-पाठ करती है। पूजाघर में जाकर धूप-दीप जलाती है और देवी देवताओं पर फूल अर्पण करने के बाद ही अपना भोजन करती है जो कि उसका नित्य का काम है।

सावित्री के द्वारा इस उपन्यास के एक प्रसंग में अपनी निर्बलता के बारे में कहती है 'मैं भी एक इंसान हूँ। हालांकि तुम पुरुष लोग इस बात को कभी नहीं मानोगे। तुम सोचते हो तुम लोग जब हमसे खेलना चाहो, हम तुम्हारे खिलौने हैं और बाकी समय तुम्हारे गुलाम हैं। पर ऐसा नहीं है।

यह मत सोचो कि तुम जब इच्छा हो हमारे हो, हमारे प्रति प्रेम जता सकते हो और जब इच्छा हो ठोकर मार सकते हो।

इस प्रसंग में यह सावित्री अपनी निर्बलता की कुंठा के फलस्वरूप कहती है क्योंकि वह अपने पति को शांताबाई के प्रेम-प्रसंग से मुक्त करा पाने में अक्षम हो जाती है। इस उपन्यास में सावित्री और उसकी मित्र जानम्मा दोनों ही अत्यधिक धार्मिक प्रवृत्ति की हैं जो बिना पूजा-पाठ के अपना भोजन तक ग्रहण नहीं करती हैं। उनके धार्मिक होने का सबसे बड़ा कारण उनका अल्पशिक्षित होना तथा आर्थिक रूप से आत्म निर्भर न होना है जो कि उन्हें पारिवारिक और वैवाहिक जीवन जीने के लिए मजबूर कर देता है और परम्परागत तरीके से जीवन जीने में धर्म का सहारा अपने को आंतरिक रूप से संतुष्टि प्रदान करने का एक साधन है।

ठीक उसी प्रकार से 'द गाइड' में धार्मिक होने का संकेत राजू (जो कि एक गाइड का काम करता है) की माँ है। राजू की माँ एक पूर्ण धार्मिक और पतिव्रता महिला का चित्रण प्रस्तुत करती है क्योंकि वह न तो शिक्षित है न ही आर्थिक रूप से आत्म निर्भर, बल्कि राजू के द्वारा कमाए हुए धन से अपना जीवन पालती है। उसकी निर्बलता उसे धार्मिक होने को मजबूर करती है जिससे वह पितृसत्तात्मक संरचना के द्वारा निर्धारित जीवन जीने को ही बढ़ावा देती है। एक प्रसंग में वह रोजी, जो कि उपन्यास की मुख्य किरदार है, से कहती है कि पत्नी धर्म निभाना इतना आसान नहीं है उसके लिए बहुत त्याग और आत्मबलिदान की आवश्यकता होती है। पत्नी धर्म का निर्वाह करने के लिए संस्कारों और परम्पराओं का पालन अति आवश्यक है। क्योंकि धर्म हमेशा धार्मिक नियमों एवं अनुष्ठानों द्वारा पत्नी को पतिव्रता होना सिखाता है।

जैसा कि स्वतंत्र स्त्री का रूप ऋग वेद में बताया गया है कि – "अहम् रुद्रेमिह वासुभिः चारमाथहम् यडियोरित् विश्विदवैह" अर्थात् मैं रुद्र और वासु, आदित्य, विश्विदवास और ब्रह्मचारियों के समूह के साथ खेलती हूँ। मैं मित्रा और करुण, इंद्र और अग्नि और अश्विन के साथ-साथ चलती हूँ। मैं सोम को लेकर चलती हूँ, जो दुश्मनों का नाश करती हैं इन सब गुणों एवं कार्यों वाली स्त्री को स्वतंत्र माना गया है।⁶ (Jain & Mahan 1996 : 101)

आर्थिक रूप से एक स्त्री के स्वतंत्र होने के लिए उसे इन दैवीय गुणों से संयुक्त होना चाहिए। जिससे कि उसे अपने विरुद्ध लोगों का सामना कर सके। इस प्रकार के गुण निश्चित ही एक स्त्री को धार्मिक कार्यों से बांधते हैं, जो कि उसे स्वतंत्रता का एक झूठा अनुभव मात्र ही प्रदान करते हैं। धार्मिक होना एक स्त्री को उसके परिवार एवं वैवाहिक जीवन में अधीन स्थिति को दिलाने में हमेशा सहायक रहा है जिसमें कि स्त्री को पितृसत्तात्मक संरचनाओं से अधिक मजबूती से बांध कर रखा जा सके और पितृसत्तात्मक कार्यों की पूर्ति के लिए प्रेरित किया जाता रहे।

इस प्रकार से धर्म के द्वारा एक स्त्री को पुरुष के अधीन उचित ठहरा कर निर्बलता को मान्य बना दिया जाता है। "धर्म दूसरी तरफ व्यक्तिगत और सार्वजनिक क्षेत्र विभाजन में भी मदद प्रदान करता है।" जिसके अन्तर्गत एक स्त्री के कंधों पर पारिवारिक और वैवाहिक जीवन के निर्वाह की जिम्मेदारियां रख दी जाती है। इस प्रकार एक स्त्री को निर्बल स्थिति में ला दिया जाता है। जो पारिवारिक दायित्वों से कभी मुक्त होकर अपनी स्वतंत्रता अस्मिता का अनुभव ही नहीं कर पाती।

'द गाइड' में रोजी जो मार्को की पत्नी रहती है अपनी नृत्य इच्छा की पूर्ति के लिए अपने पति से अलग तो हो जाती है परन्तु उसकी धर्मपत्नी और आदर्श नारी का रूप उसे कभी मार्को से

बिल्कुल अलग रहकर अपनी स्वतंत्रता को अनुभव नहीं करने देता। उपन्यास में रोजी का चित्रण एक आदर्श नारी का ही है जो कि उसे प्रारम्भ से लेकर अन्त तक इस आदर्श स्थिति से निकल पाने में बाधक बनी रहती है। रोजी एक तरफ तो अपने पति से अलग होकर एक सशक्त स्त्री का परिचय देती है परन्तु दूसरी तरफ अपने पति को हमेशा महसूस करते रहने से वह उससे कभी स्वतंत्र होकर अपने आपको अनुभव कर पाने में अक्षम पाती है इस प्रकार वह सबल और निर्बल दोनों ही स्थितियों का चित्रण करती है इस प्रकार का स्त्री-चित्रण नारायण की काल्पनिक कला की एक सामान्य विशेषता रही है।

नारायण के अन्य उपन्यास 'कला स्नातक' में चंद्रन की मां माला फेरते हुए राम का पवित्र नाम लेते हुए और मन में आंशिक रूप से अपने पति, गृहस्थी, बच्चे से संबंधित विषय में विचार करते हुए देखी जाती है अर्थात् चंद्रन की मां एक धार्मिक महिला है जो पितृसत्तात्मक संरचना द्वारा निर्धारित मूल्यों का वहन को बाध्य है। चंद्रन एक बार नदी के किनारे घूमती हुयी मालती नाम की लड़की के प्यार में पड़ जाता है और सोचता है कि यदि वह चौदह साल से ज्यादा की हुई तो वह विवाहिता होनी चाहिए। किसी विवाहित लड़की के बारे में सोचने से क्या फायदा? यह अनुचित है अर्थात् स्त्रियां यहां इतनी निर्बल थी उनकी एक उम्र तक आते-आते शादी हो जाती थी। सप्ताह में दो दिन वह लड़की नदी के किनारे घूमने नहीं आती थी। इस पर चंद्रन ने कल्पना कि वह शायद इन दो दिनों में मंदिर जाती होगी, जो स्त्रियों के लिये अनिवार्य माना जाता था। चंद्रन की मां पितृसत्तात्मक संरचना में बंधी तो थी लेकिन उन्हें अपनी सहेलियों के यहां जाना प्रतिबंधित नहीं था। लेकिन वह पूरी तरह इतनी सबल नहीं थी कि अपने मत के अनुसार कुछ भी कर सकें।

उपन्यास में चंद्रन का मांगलिक होना उसके और मालती के प्रेम संबंध में बाधक सिद्ध हुआ, जिसमें की दोनों ही प्रभावित हुए और अलग-अलग लड़का-लड़की से शादी करनी पड़ी। अर्थात् मालती किसी भी रूप में इतनी सक्षम न थी अपने मां बाप के विरुद्ध होकर चंद्रन से शादी कर पाती। चंद्रन की मां पितृसत्तात्मक संरचना में इस सीमा तक बंधी थी कि लड़के के मांगलिक होने के दोष के लिये भी लड़की को ही कोसती है।

चंद्रन की शादी को लेकर उसकी मां लड़की देखने के संदर्भ में बताती है कि विवाह के लिए लड़की की कुंडली दसियों जगह भेजी जाती है और उन्हें दसियों बार देखा जाता है, इसे उसकी मां गलत नहीं मानती है, बल्कि बताती है कि यह तो हमेशा से चला आया है इसमें बुरा मानने जैसी कोई बात ही नहीं है अर्थात् लड़की को शादी के लिए कितनी भी बार मना किया जा सकता है। इसे सामाजिक रूप से बिल्कुल बुरा नहीं माना जाता है।

इस प्रकार स्त्री की सबलता एवं निर्बलता को उनके शिक्षित, अशिक्षित होने या आर्थिक रूप से निर्भर होने आदि पर अधिक निर्भर नहीं देखा गया है। नारायण शायद स्त्री की सबलता व निर्बलता के संदर्भ में तथ्यों को व्यंग्गात्मक रूप में प्रकट करने में विश्वास रखते हैं जो कि स्त्री को कभी सबल तथा कभी निर्बल दिखाते हुए प्रतीत होते हैं।

निष्कर्ष

नारीवादी आलोचना का मुख्य आलोचनात्मक कार्य पहले से प्रस्तुत साहित्य, ग्रंथों को एक नई दृष्टि से समझने का प्रयास है और उस दिशा की तरफ संकेत करना है जो कि मुख्य धारा (पुरुषों द्वारा निर्मित धारा) के द्वारा हमेशा नकारा जाता रहा है। यदि हम वास्तव में साहित्य एवं

धर्म ग्रंथों या अन्य स्रोतों की गूढ़ बातों की वास्तविकता जानना चाहते हैं तो यह आवश्यक हो जाता है कि प्रस्तुत स्रोतों का एक नई दृष्टिकोण से विश्लेषण किया जाये। स्त्रियों के बारे में यदि गहनता से देखा जाए तो जहां हम कल के बारे में अग्रदूत थे। वहीं आज के संदर्भ में उन्हीं मूल्यों को पीछे ले जाते हैं। माँ के रूप में उनके बंधे हाथों को ही देखते हैं जिसमें कि उसके लिए केवल प्यार ही एक मात्र सहारा नजर आता है। हम लोग केवल मुस्कराते हुए नजर आते हैं और खुद भी उन स्त्रियों के उत्पीड़न के लिए कुछ नहीं कर पाते हैं। साहित्य हमारे काल्पनिक दशा का रूप है और साथ ही साथ एक आलोचनात्मक आवाज का स्रोत भी है। अंग्रेजी-भारतीय साहित्य में स्त्री पक्षों की आलोचनात्मक रूप से यह आवश्यक माना जाता है कि उस समय के समाज तथा साहित्य को आमने-सामने लाकर एक धरातल पर समझा जाये। जैसा कि सांड्रा हार्डिंग भी इस बात को मानती है कि स्त्री प्रश्नों को समझने के लिए स्त्री प्रश्नों को और पितृसत्तात्मक समाज को एक स्तर पर लाकर आलोचनात्मक रूप से वस्तुनिष्ठ विश्लेषण किया जाना चाहिए।

आर.के. नारायण के उपन्यास निश्चित रूपसे उन दमनात्मक पक्षों का चित्रण करते हैं जो कि स्त्री की व्यक्तिगत चेतना और आत्मपन का प्रदर्शन भी देखने को मिलता है, जो कि पूर्ण न होकर आंशिक स्तर पर महसूस किया जा सकता है। समाज का स्त्री के प्रति व्यवहार में परिवर्तन लाने में सहायक बन सकता है। नारायण के उपन्यास में सांस्कृतिक और नैतिक पक्ष, केन्द्र बिन्दु के रूप में रहे हैं जिन्हें उन्होंने स्त्री शोषण से देखने का प्रयास किया है। आर.के. नारायण के उपन्यासों में माँ, पत्नी और बहनों की भूमिका में स्त्रियाँ कष्टों को सहने वाली या धैर्यवान, सहनशील, स्थितियों से समझौता करने वाली पायी गयी है। इनके उपन्यासों में स्त्री भूमिका से जुड़ी भिन्न स्थितियों के मध्य संतुलन बनाती हुई देखी गयी है। इन उपन्यासों में सामाजिक संस्थाओं जैसे परिवार एवं विवाह का भी चित्रण स्पष्टता से प्रदर्शित करने की कोशिश की गयी है, लेकिन उन तथ्यों को कम देखा गया है जो कि इन संस्थाओं के मध्य बाधा के रूप में आये या चुनौती खड़ा कर सके। नारायण, माता-पिता द्वारा प्रबंध-विवाह और इसमें रिश्तों के गहरे घर्बों को प्रस्तुत करने में सक्षम देखे गये हैं। नारायण भारतीय विवाह में उन तनावों को भी दिखाने में सक्षम रहे हैं जो कि जीवन में तनाव एवं उत्पीड़न पैदा करते हैं इनके द्वारा भारतीय स्त्री का आदर्श रूप उसकी अच्छेपन और सहयोग की ही भावना से प्रदर्शित होता है तथा साथ ही साथ अमानवीय पक्षों को भी दर्शाते हैं जैसा कि हम नारायण के उपन्यास 'द डार्क रूम' में देखते हैं कि एक स्त्री अपनी स्थिति से किस तरह से समझौता करके घर पर वापस आ जाती है और उसके लिए घर के बाहर की दुनिया में कोई जगह नहीं बचती है जहां वह स्वतंत्र एवं सम्मान से अकेला जीवन व्यतीत कर सके। नारायण निश्चित रूप से अपने जीवन के अनुभवों को अपने उपन्यास के किरदारों के माध्यम से समाज के विभिन्न पक्षों का सूक्ष्म चित्रण प्रस्तुत करते हैं जिसमें कि स्त्रियाँ अलगाववाद, पार्श्वीकरण की अवस्था को महसूस करती हैं। इन्होंने स्त्री पात्रों द्वारा चुपचाप कष्टों को सहन करना प्रबलता से प्रस्तुत किया है। आर.के. नारायण पुरुष पात्रों के माध्यम से समाज की संरचना को प्रदर्शित करने में भी अच्छी तरह सफल पाये गये हैं। यह पितृसत्तात्मक समाज में उत्पीड़न घर के अंदर हो या बाहर। घर के अंदर वे घरेलू प्रताड़ना को पति और पत्नी के संबंध के माध्यम से प्रदर्शित करते हैं। स्त्री इच्छा के संदर्भ में यह देखा गया है किस तरह से एक स्त्री की इच्छाओं का दमन पुरुष अपने पुरुषत्व के आधार पर करता है दूसरी तरफ इसकी विपरीत स्थिति में स्त्री की आकांक्षा को एक पुरुष के द्वारा पूर्ण किया जाता है इस प्रकार

वे अप्रत्यक्ष रूप में पुरुष की भूमिका का चित्रण करते हैं और सामाजिक दृष्टि से पुरुष वर्चस्व को प्रस्तुत करते हैं। जिसका उदाहरण 'द गाइड' को माना जा सकता है। पत्नी किरदार द्वारा आर.के. नारायण अपने उपन्यासों में भारतीय हिन्दू पत्नी के आदर्श रूप को प्रदर्शित करते हैं, जिससे पत्नी हमेशा हिन्दू धर्म के अनुसार निर्धारित धर्मपत्नी की विशेषताओं को बखूबी निभाती दिखाई गयी है। आर.के. नारायण का मुख्य स्त्री पक्ष केवल हिंदू स्त्री का ही चित्रण प्रदान करता है यह अजीब बात है कि वे अन्य धर्मों की स्त्रियों का चित्रण क्यों नहीं कर पाये।

नारायण अपने उपन्यासों के माध्यम से कई बार पुरुष के सन्यासी होने की स्थिति को भी दर्शाते हैं। जिसमें कि या तो वे गलती से सन्यासी समझ लिए जाते हैं या फिर परिस्थिति की मांग के अनुसार सन्यासी होने का प्रदर्शन करते हैं। जैसा कि हम जानते हैं किसी का सन्यासी होना भी हिन्दू धर्म के चार आश्रमों में से एक है जो कि एक व्यक्ति को अपने जीवन काल में निर्वाह करना ही चाहिए। इस अवस्था को नारायण व्यंग्यात्मक रूप से प्रस्तुत करते हैं जिसमें यह स्वेच्छा से न होकर परिस्थितियों की मांग के आधार पर पाया जाता है लेकिन वे स्त्री-सन्यासी का कोई भी उदाहरण प्रस्तुत नहीं करते हैं।

भारतीय स्त्री की पत्नी की भूमिका में वे उसे पतिव्रता के रूप में प्रस्तुत करते हैं जिसके जीवन का मुख्य उद्देश्य अपने पति एवं बच्चों के लिए समर्पित रहना है तथा यह एक महत्वपूर्ण विशेषता मानी गयी है, जिसमें शादी को प्रमुख स्थान दिया गया है जहाँ कि एक व्यक्ति का बंधना प्राकृतिक माना गया है। इस बंधन में उस पर वफादारी और पत्नी धर्म का भार लाद दिया जाता है। पतिव्रता के रूप में स्त्री चित्रण सौभाग्यवती की तस्वीर प्रस्तुत करता है जिसमें कि एक स्त्री शुभ संकेतों को लाने वाली अपने पति की हमेशा लम्बी उम्र की कामना करती हुई देखी गयी है। इसके लिए उसको सारे प्रकार के कष्टों को सहने वाली कहा गया है और एक ऐसी स्त्री का चित्रण पाया गया है जो कि परम्परागत रूप से पवित्र वफादार, धैर्यवान सहनशील, आत्म-बलिदानी, शिकायत न करने वाली बताया है। ये विशेषताएं एक स्त्री से हमेशा अपेक्षित रही है जो उसके आदर्श बनने में सहायक मानी गयी है। पितृसत्तात्मक समाज ने इन विशेषताओं के आधार पर स्त्री के आदर्श को गढ़ा है और इनका निर्वाह करना एक स्त्री का कर्तव्य माना है, जो स्त्री इसका निर्वाह नहीं करती है वे निम्न और असामाजिक कहकर तिरस्कृत की गई है।

आर.के. नारायण संस्कृति एवं धार्मिक परम्परा में शुभ और अशुभ संकेतों का भी प्रस्तुतीकरण करते हुए पाये गये हैं, जो कि मानव जीवन को प्रभावित करते हैं, जैसा कि अपने उपन्यास के माध्यम से किसी के मांगलिक होने का प्रभाव जीवन पर दर्शाते हैं जिसमें कि न केवल लड़की बल्कि लड़का भी सहन करता है। ज्यादातर दोष लड़की के माथे पर मढ़ दिया जाता है। आर.के. नारायण उपन्यास के माध्यम से स्त्री के आद्यरूप और परम्परागत रूप को प्रस्तुत करते हैं जिसके द्वारा स्त्री की वास्तविक स्थिति को समझा जा सकता है। आद्यरूप के द्वारा उस स्थिति का चित्रण मिलता है जो कि स्त्री-छवि का स्रोत और आदर्श तस्वीर को सामने लाने में सहायक होता है तथा दूसरा परम्परागत रूप स्त्री की मूक स्थिति और सहनशील छवि को सामने लाने में सहायता प्रदान करता है और अंत में उस स्थिति को जानना जिसमें कि स्त्री उन मूल्यों का खण्डन करती है, जो पितृसत्तात्मक आधार पर बनाये गये हैं। नारायण के उपन्यास में स्त्री के आद्यरूप और परम्परागत रूपों को तो बखूबी दिखाते हैं लेकिन उन स्त्रियों को बहुत प्रभावी तरीके से सामने लाने में कम

समर्थ पाये गये हैं। जो कि पितृसत्ता के विरुद्ध अपनी आवाज उठाती है। जैसे देखा जाय तो 'दि डार्क रूम' में शांताबाई का चित्रण स्पष्ट रूप में यह नहीं दर्शाता है कि वह पितृसत्ता की संरचना से बाहर है या उसकी परिधि में है कुछ हद तक वह इस संरचना से तो बाहर ही दिखती है परन्तु उसकी स्थिति पूरी तरह से स्पष्ट नहीं दिखाई पड़ती है।

नारायण पुराणों में वर्णित धर्मपत्नी का प्रारूप प्रदर्शित करते हैं जैसे कि रमणी द्वारा सावित्री का उनके खाना न खाने से पहले को पत्नीधर्म से जोड़कर देखा गया है और रमणी सावित्री की प्रशंसा करते हुए कहता है तुम वैसी ही पत्नी हो जैसे कि पुराणों में कहा गया है। यदि मारकाण्डेय पुराण में स्त्री का चित्रण देखे तो कहा गया है कि स्त्री दया का रूप है जो कि उसकी स्त्रीत्व की अस्मिता को दर्शाता है और साथ ही यह कहा गया है कि यदि वह रूष्ट हो तो अग्नि के समान है। लेकिन बाद में समाज के विकास में साथ-साथ स्त्रियों पर आर्थिक उत्पीड़न और प्रतिबंध बढ़ते गये और परिवार के क्रम को बनाये रखने के लिए स्त्री के कंधों पर ये जिम्मेदारी मढ़ दी गयी कि वहीं इसकी वाहक होगी। यहाँ पर उसे अधिकार और निर्णय लेने की शक्ति से पृथक कर दिया गया इनके कंधों पर परम्परा को ढोने का बोझ रख दिया गया, जो कि नारायण के उपन्यासों में स्पष्टतः दिखाई पड़ता है। माँ की भूमिका घर के अंदर अपने पति और बच्चों की सेवक से ज्यादा कुछ नहीं है और बाद में यही जिम्मेदारी पत्नी की भूमिका में देखी गयी है। पिता की भूमिका में यह बात कहीं नहीं आती है किस चीज से एक स्त्री खुश होती है या नहीं होती है वह केवल अपने सुख के लिए जीता चला जाता है। बार-बार यह प्रयास भी पाया गया है कि स्त्री को स्त्री बनाया जाये और उसे उसके कर्तव्यों को बनाते रहा जाये।

यहाँ नारीवादी दृष्टि से इन उपन्यासों का अध्ययन पितृसत्तात्मक समाज की संरचना में स्त्री के उन पक्षों को समझना है जिसके आधार पर एक ऐसे समाज की परिकल्पना तैयार हो सके। जिसमें स्त्री को जीवन के हर क्षेत्र में समानता के स्तर पर लाया जा सके क्योंकि इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता है कि देश या राष्ट्र का विकास केवल पुरुषों द्वारा ही पूर्ण किया जा सकता है बल्कि स्त्रियों की भूमिका भी उतनी ही महत्वपूर्ण है जितनी कि पुरुषों का। यदि हम स्त्री पक्षों को समाज के विकास की मुख्य धारा से नहीं जोड़ते हैं तो देश का सम्पूर्ण विकास होना सम्भव नहीं है। नारीवादी दृष्टिकोण से स्त्री को उस परम्पराबद्ध स्तर से बाहर निकलना है जिसमें वे हमेशा दबी, सहनशील और दया की पात्र समझी जाती रही है, उनके गुणों को अवसर प्रदान करना अति आवश्यक हो जाता है। साहित्य के प्रत्येक पक्ष की सृजनात्मक तरीके से व्याख्या करने की आवश्यकता है जिसमें की स्त्री की भूमिका उतनी ही महत्वपूर्ण है जितनी एक पुरुष की। इन उपन्यासों के माध्यम से उन ध्वनियों को बाहर लाना है जो कि पितृसत्ता की संरचना द्वारा हमेशा दबायी जाती रही है। अन्यथा हम सारी विकास की प्रक्रियाओं के बावजूद भी रूढ़िवादी और प्राचीन काल से चले आ रहे स्त्री समस्याओं को हल कर पाने में असमर्थ ही रहेंगे। हमारी ये असमर्थता हमें विकास की प्रक्रिया में शामिल होने के मार्ग में हमेशा बाधा ही उत्पन्न करेगी। शायद इसीलिए हमें नयी सोच और नये दृष्टिकोण से समाज के हर पक्ष को समझना जरूरी हो गया है, जिसमें की स्त्री को समानता के धरातल पर बिना किसी लिंगभेद के लाया जा सके।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

- Kumkum Sangiri and Sudesh Vaid, 1989: Recasting Women, New Delhi: Kali for Women.
Pratibha Jain and Rajan Mahan, 1996: Women Images, Jaipur : Rawat Publications.
Zoey A. Heyer- Gray 2000: ' Gender and Religious Work' : Sociology of Religion, Vol. 61, No. 4, pp. 467-471

आई.एस.एस.एन. संख्या : 2454-2458

नवरचना NAVRACHNA

www.grefiglobal.org/journals/navrachna.2018

वर्ष 4, अंक 1-2, जून-दिसम्बर 2018, पृ. 39-42

आर्थिक विकास और पर्यावरण संरक्षण

स्वीटी जैन*

सारांश

प्रस्तुत शोधपत्र आर्थिक विकास के परिप्रेक्ष्य में पर्यावरण संरक्षण पर आधारित है। पर्यावरण और विकास एक सिक्के के दो पहलू हैं और प्राकृतिक संसाधनों के बिना आर्थिक विकास संभव नहीं है। पर्यावरण सुरक्षा में केन्द्र व राज्य सरकारों के द्वारा महत्वपूर्ण योगदान दिये जा रहे हैं। परन्तु इसके बावजूद भी पर्यावरण संरक्षण के उद्देश्यों को वांछित परिणाम प्राप्त नहीं हुये हैं। पर्यावरणीय असुरक्षा की समस्या को सफल बनाना ही इस शोधपत्र का मुख्य उद्देश्य है।

भारतीय संस्कृति के विकास और समृद्धि में वनों का महत्वपूर्ण स्थान है। वन केवल जलाने मात्र के लिए लकड़ी ही प्रदान नहीं करते, वरन् ये एक अमूल्य राष्ट्रीय सम्पत्ति हैं। वनों के अभाव में मानव की आर्थिक क्रियाओं कल्पना ही नहीं की जा सकती। वन प्रत्यक्ष रूप से लकड़ी, औषधियां और विविध कच्चे पदार्थ प्रदान करते हैं तथा अप्रत्यक्ष रूप से जलवायु को अत्यधिक प्रभावित करते हैं। देश की समृद्धि में वनों के महत्वपूर्ण योगदान के सम्बन्ध में स्वर्गीय श्री सरदार पटेल ने कहा था, 'यदि हम राष्ट्रीय समृद्धि में वृद्धि करना चाहते हैं तो वृक्षों का उपयोग हमारी राष्ट्रीय नीति का महत्वपूर्ण अंग होना चाहिये।' स्वर्गीय पंडित नेहरु का विचार था कि 'उगता हुआ पेड़ प्रगतिशील राष्ट्र का प्रतीक है।' हमें वनों का प्रयोग उतनी ही मात्रा में करना चाहिये जितने की हमें आवश्यकता है। प्रकृति तभी तक हमारा साथ देती है जब तक उसके नियमों के मुताबिक उससे लिया जाये। वृक्षों का संरक्षण भारतीय संस्कृति की परंपरा रही है परन्तु वर्तमान में मानव द्वारा पुरातन परम्पराओं से विमुख हो रहा है जिसके प्रति सजगता की आवश्यकता है।

पर्यावरण भौतिक वातावरण का द्योतक है। आजकल के यान्त्रिक और औद्योगिक युग में इसको प्रदूषण से बचाना अनिवार्य है। सामान्य जीवन प्रक्रिया में जब अवरोध होता है तब पर्यावरण की समस्या जन्म लेती है। यह अवरोध प्रकृति के कुछ तत्वों के अपनी मौलिक अवस्था में न रहने और विकृत हो जाने से प्रकट होता है। इन तत्वों में जल, वायु, मिट्टी आदि प्रमुख हैं। पर्यावरणीय समस्याओं से मनुष्य अन्य जीवधारियों को अपना सामान्य जीवन जीने में कठिनाई होने लगती है।

*शोध छात्रा, चौधरी चरण सिंह विश्वविद्यालय, मेरठ- 250 004 उ. प्र.।

पिछले सौ वर्षों में वायुमण्डल का तापमान 3 से 6 डिग्री सेल्सियस बढ़ा है। लगातार बढ़ते तापमान से दोनों ध्रुवों पर बर्फ गलने लगी। अनुमान लगाया गया है कि इससे समुद्र का जलस्तर दो मीटर बढ़ गया तो मालदीप और बांग्लादेश जैसे निचाई वाले देश डूब जायेंगे। इसके अलावा मौसम में बदलाव आ सकता है। कुछ क्षेत्रों में इसके कारण सूखा पड़ेगा तो कुछ जगहों पर तूफान और भारी वर्षा हो सकती है। इन सभी समस्याओं से भारतीय संस्कृति को बचाना है तो पर्यावरण को सुरक्षित करना नितान्त आवश्यक है।

प्रदूषक गैसों मनुष्य और जीवधारियों में अनेक जानलेवा बीमारियों का कारण बन सकती हैं। एक अध्ययन से ज्ञात हुआ है कि वायु प्रदूषण से केवल 36 शहरों में प्रतिवर्ष 51,779 लोगों की अकाल मृत्यु हो जाती है। कलकत्ता, कानपुर तथा हैदराबाद में वायु प्रदूषण से होने वाली मृत्युदर पिछले 3-4 सालों से दुगनी हो गई है। एक अनुमान के अनुसार भारतवर्ष में प्रदूषण के कारण हर दिन करीब 150 लोग मरते हैं और सैकड़ों लोगों को फेफड़ों और हृदय की जानलेवा बीमारियां हो जाती हैं। हमें इस प्रकार के प्रदूषण को रोकने के प्रयत्न करने होंगे तथा मानव की होती बर्बादी को बचाना होगा। इस प्रकार अकाल मृत्यु के कारण भारतीय समाज को क्षति पहुंच रही है।

औद्योगीकरण और शहरीकरण से जुड़ी एक दूसरी समस्या है— जल प्रदूषण। बहुत बार उद्योगों का रासायनिक कचरा और प्रदूषित पानी तथा शहरी कूड़ा-करकट नदियों में छोड़ दिया जाता है, इससे नदियां अत्यन्त प्रदूषित होने लगती हैं। भारत में कई ऐसी नदियां हैं जिनका जल अब अशुद्ध हो चुका है। इनमें पवित्र गंगा, जिसको हमारे पूर्वजों के समय से पूजा जाता रहा है, भी शामिल है। आज प्रदूषण के कारण पवित्र नदियां भी दूषित हो गई हैं, जो हमारे लिये अत्यन्त दुखद विषय है। दूषित पानी पीने से ब्लड कैंसर, जिगर कैंसर, हड्डी रोग, हृदय एवं गुर्दों की तकलीफें और पेट की अनेक बीमारियां हो सकती हैं। जिसके कारण हमारे देश के हजारों लोग प्रतिवर्ष मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं। नदियों की पवित्रता को बनाये रखना तथा इनको गन्दगी से बचाना हमारा परम कर्तव्य है।

वनों की कटाई एक मुख्य पर्यावरण समस्या है। वनों के विनाश के कारण वन्य जीव लुप्त हो रहे हैं। वनों के क्षेत्रफल में लगातार होती कमी के कारण भूमि का कटाव और रेगिस्तान का फैलाव बड़े पैमाने पर होने लगता है। वन मन्त्रालय की रिपोर्ट के अनुसार 2005 में देश में मूल 6,77,088 वर्ग किमी० वन क्षेत्र था। केन्द्रीय वन एवं पर्यावरण मन्त्रालय की रिपोर्ट 01 दिसम्बर 2009 के अनुसार देश में कुल वन क्षेत्र में 728 किमी० की वृद्धि 2005-2007 के दौरान हुई तथा वर्ष 2007 में देश में वन क्षेत्र के देश के कुल भूभाग का 21.02 प्रतिशत हो गया। इस प्रकार देश में कुल वन क्षेत्र 6,77,088 व 6,77,816 वर्ग किमी० वर्ष 2007 में हो गया था किन्तु यदि पूरे भारत देश की वन स्थिति की तुलना अन्य देशों से करें तो भी भारत की स्थिति दयनीय है। भारत में 21.02 प्रतिशत वन क्षेत्र है जबकि जर्मनी में यह 28 प्रतिशत, अमेरिका में 33 प्रतिशत, जापान में 62 प्रतिशत, फिनलैण्ड में 71 प्रतिशत व थाईलैण्ड में 77 प्रतिशत है। साथ ही भारत में विश्व की जनसंख्या का 17 प्रतिशत निवास करती है, लेकिन यहां विश्व के वनों का केवल 2 प्रतिशत भाग ही पाया जाता है। इस प्रकार भारत में प्रति

व्यक्ति वन क्षेत्र 671 वर्ग मीटर है जबकि वैज्ञानिकों के अनुसार कम से कम 1,605 वर्ग मीटर होना चाहिये, परन्तु तब से अब तक वन क्षेत्र में कोई वृद्धि नहीं हो पायी है।

बहुमुखी विकास, निरन्तर तीव्र औद्योगीकरण, प्राकृतिक संसाधनों का अत्यधिक दोहन एवं तेजी से बढ़ती जनसंख्या के दबाव के कारण पर्यावरण संरक्षण, संवर्द्धन एवं सन्तुलन विश्व की ज्वलंत चुनौती बन गया है। आज हम सभी को पर्यावरण के प्रति सजग रहने की आवश्यकता है।

प्रकृति हम लोगों की संरक्षक एवं पोषक है। स्वस्थ विकास वही है, जिसमें हम प्रकृति की मूल सम्पदा को बचाये रखते हुए, उसके ब्याज से काम चलाते रहे और उसे देश की भावी पीढ़ियों के लिये बचाकर और संजोकर रखें। वनों के प्रति सजग न रहना और भावी पीढ़ियों की चिन्ता न करना उनके प्रति अन्याय है। पर्यावरण के महत्व को हम इन तथ्यों द्वारा समझ सकते हैं कि एक पेड़ से जितनी शीतल छाया हमें मिल सकती है, उतनी पांच एअर कण्डीशनर 20 घण्टे लगातार चलकर देते हैं। 93 घन मीटर में लगा वन 8 डेसीबल ध्वनि प्रदूषण को दूर करता है। एक हेक्टेअर में लगा वन 20 कारों द्वारा उत्पन्न कार्बन डाई आक्साइड एवं धुएँ को शोषित करता है। वन राष्ट्रीय एवं वैश्विक पर्यावरण एवं प्राकृतिक सन्तुलन के प्रमुख अंग हैं, परन्तु पिछली शताब्दी में वनों पर बहुत बेरहमी से आक्रमण हुआ है।

वनों की रक्षा हेतु उत्तराखण्ड के चमोली जिले में 'चिपको आन्दोलन' चलाया गया था। इसी प्रकार आन्ध्र प्रदेश में 'शान्ति घाटी आन्दोलन', टिहरी में समाज सेवी सुन्दरलाल बहुगुणा द्वारा भागीरथी की पुकार के साथ 'हिमालय को बचाओ, देश को बचाओ' का नारा दिया गया था। देश के स्वयं सेवी संगठनों द्वारा भी यह नारा दिया गया था कि 'कुल्हाड़ी को बन्द करो, हिमालय को बचाओ' अथवा 'हिमालय बचेगा तो देश बचेगा'। सरकार भी पर्यावरण संरक्षण की दिशा में प्रयत्नशील है। पर्यावरण संरक्षण के लिये केन्द्र एवं राज्य सरकारों द्वारा अनेकों अधिनियम बनाये गये हैं।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भारत सरकार ने वन विकास की आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए सन् 1950 में एक केन्द्रीय वन मण्डल स्थापित किया। इसके दो वर्ष पश्चात् सन् 1952 में सरकार ने राष्ट्रीय वन नीति की घोषणा की जिसके अनुसार देश के कुल क्षेत्रफल के एक तिहाई भाग में वन लगाने का लक्ष्य रखा गया।

1 दिसम्बर 1988 में राष्ट्रीय वन नीति में पुनः संशोधन किया गया। संशोधित वन नीति का मुख्य आधार वनों की सुरक्षा, संरक्षण और विकास है। इसके मुख्य लक्ष्य निम्नलिखित हैं—

1. पर्यावरण स्थिरता
2. मृदा संरक्षण
3. जीव जन्तुओं और वनस्पतियों जैसी प्राकृतिक धरोहर की हिफाजत करना

पर्यावरण सुरक्षा में स्वयं सेवी संगठनों, केन्द्र एवं राज्य सरकारों के द्वारा महत्वपूर्ण योगदान दिये जा रहे हैं परन्तु केन्द्र एवं राज्य सरकारों के इन उपायों के बावजूद भी पर्यावरण संरक्षण के उद्देश्यों के वांछित परिणाम प्राप्त नहीं हुए हैं तथा पर्यावरण असुरक्षा की समस्या निरन्तर बढ़ रही है। यह पर्यावरण सुरक्षा अभियान तब तक सफल नहीं हो सकता जब तक इसको जन सहयोग पर्याप्त मात्रा में प्राप्त नहीं होता।

अतः पर्यावरण संरक्षण भारत के विकास के लिये अत्यन्त आवश्यक है। हमें अपना पूर्ण सहयोग पर्यावरण संरक्षण के प्रति देना होगा तथा अपनी संस्कृति के नियमों का पालन करना होगा जिन्हें हम भौतिकवाद की अंधी दौड़ में भूलते जा रहे हैं। हमें याद रखना होगा कि वृक्षों की पूजा, वनों का संरक्षण, नदियों की पवित्रता आदि हमारी पुरातन संस्कृति है, जिसको हम भुला नहीं सकते। हमें अपनी भारतीय संस्कृति का स्मरण पुनः करना होगा तथा पर्यावरण संरक्षण के महत्व को समझते हुए पर्यावरण संरक्षण की दिशा में भरपूर प्रयास करने होंगे

सन्दर्भ ग्रंथ सूची

- त्रिपाठी, नरेश चन्द : भारतीय अर्थव्यवस्था,
 सिंह, निशांत : वन्य जीव संरक्षण,
 गर्ग, एन. के. पर्यावरण संरक्षण,
 सक्सेना एण्ड गुप्ता भारतीय अर्थव्यवस्था,
 कुलदीप बदलता पर्यावरण,
 किशोरीलाल प्रकृति पर्यावरण समस्याएं एवं समाधान,
 वी० सी० सिन्हा भारतीय आर्थिक समस्याएं,
 दामोदर शर्मा आधुनिक जीवन और पर्यावरण,
www.pragatiparyavaran.org

आई.एस.एस.एन. संख्या : 2454-2458

नवरचना NAVRACHNA

www.grefiglobal.org/journals/navrachna.2018

वर्ष 4, अंक 1-2, जून-दिसम्बर 2018, पृ. 43-47

आधुनिक जनसंचार माध्यमों का विद्यालयीन शिक्षा पर प्रभाव

रेणू वर्मा

सारांश

आधुनिक शिक्षा जनसंचार माध्यमों के साथ अत्यधिक सार्थक और समर्थ रूप से प्रस्तुत होती है। आधुनिक शिक्षा के विकसित स्वरूप में जनसंचार एक उपयोगी माध्यम है यदि शिक्षा व्यक्तित्व के विकास की धुरी है तो जनसंचार व्यक्तित्व विकास का आवरण है और बिना आवरण किसी भी तरह के विकास को परिभाषित करना कठिन है। जनसंचार व्यक्तित्व विकास की सटीक पहचान और दिशा देने का कार्य करता है। वर्तमान में जनसंचार माध्यमों को अपनाकर शिक्षा का आधुनिक स्वरूप विकसित हुआ है। अतः प्रस्तुत शोध पत्र में भोपाल के शासकीय विद्यालय की छात्राओं को प्रभावित करने वाले जनसंचार के विभिन्न माध्यमों का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

संचार से तात्पर्य उन समस्त साधनों से है जिसके द्वारा कोई भी व्यक्ति अपनी विचारधारा को दूसरे व्यक्ति के समक्ष अपने वक्तव्य के माध्यम से प्रस्तुत करता और दूसरे की बात को समझने के लिए के लिए अपनाता है। वास्तव में यह दो व्यक्तियों के बीच एक सेतु का कार्य करता है जिसके अन्तर्गत कहने, सुनने एवं समझने की एक वैज्ञानिक प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती है (जानसन 2014) हेन्डल व अन्य (2007) के अनुसार— “संचार केवल सरल भाषा एवं वक्तव्य नहीं अपितु यह अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर दिये जाने वाला एक संदेश है जिसमें वे सभी प्रक्रियाएं सम्मिलित होती हैं जिसमें एक व्यक्ति अन्य व्यक्तियों को प्रभावित करता है।” आधुनिक शिक्षा के क्षेत्र में जनसंचार एक व्यापक संचार प्रक्रिया है जिसके द्वारा विकसित संचार माध्यमों एवं उपकरणों के द्वारा शिक्षा के विभिन्न क्षेत्रों तक संदेशों, सूचनाओं एवं विचारों को पहुँचाया जाता है। आधुनिक सूचना के इस क्रान्ति के वातावरण ने शिक्षा और जनसंचार के क्षेत्र को और भी अधिक व्यापक बना दिया है शिक्षा के क्षेत्र में वर्तमान में पुस्तकों, प्रेस, सिनेमा, रेडियो, टेलीविजन विडियो, इन्टरनेट, मोबाइल आदि के द्वारा क्रान्ति का सोपान हुआ है आज प्रत्येक क्षेत्र में समाचार पत्र, म्यूजिक सिस्टम, फिल्मों, टेलीविजन, मोबाइल की पहुँच बढ़ी है जनसंचार के विभिन्न माध्यमों द्वारा एक समान संदेश, लगभग एक ही समय में बहुत से व्यक्तियों के बीच पहुँचाया जा सकता है।

‘द न्यू इन्साइक्लोपीडिया ऑफ ब्रिटेनिया’ के अनुसार शिक्षा से सम्प्रेषण प्रत्येक व्यक्ति के मध्य अर्थ का विनिमय है जिसे प्रतीकों की समान व्यवस्था के द्वारा पूर्ण करते हैं तथा शिक्षा में

जनसंचार का तात्पर्य "व्यक्ति अथवा एक बिन्दु से दूसरे बिन्दु तक संवाद एवं सूचनाओं का स्थानान्तरण है।" यदि आधुनिक शिक्षा की बात करें तो संचार माध्यम एक सरल एवं व्यक्तित्व परक ही नहीं अपितु यह अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर संचालित किया जाने वाला सटीक माध्यम हैं, इसमें वे सभी प्रक्रियाएँ सम्मिलित हैं जिसमें एक व्यक्ति अन्य किसी भी व्यक्ति या व्यक्तियों को प्रभावित करता है। संचार की प्रक्रिया में व्यक्ति अपने विचार दूसरों तक पहुँचाता है, माध्यम कुछ भी हो सकता है, किन्तु जनसंचार में एक वृहत्तर क्षेत्र समाहित है इसमें प्रत्येक प्रकार की सूचना, संवाद एवं संचार हैं। सूचनाओं का आदान-प्रदान न सिर्फ दो व्यक्तियों के बीच होता है बल्कि व्यक्तियों और संगठनों के मध्य भी होता है जिसके परिणाम स्वरूप आपसी समझ को निर्मित करना सहज हो जाता है। आधुनिक जनसंचार माध्यम आज के युवा वर्ग की दैनिक आवश्यकता बन गये हैं। विद्यालयीन शिक्षा काफी हद तक 'अवाचिक संचार' से जुड़ी होती है जो कि संकेतों, चिन्हों, प्रतीकों, प्रतिमाओं और अंग संचालन के माध्यम से होता है जिसमें की भाषा का प्रयोग अगर न भी किया जाये तो भी शिक्षण प्रक्रिया पूर्ण होती है क्योंकि ये अपने आप में वृहत् अर्थ को समाहित किये रहते हैं। 'वहीं दूसरी ओर 'वाचिक संचार' मानव जीवन के विभिन्न आयामों को परिवर्तित करता है। भाषा संचार के उपकरण के रूप में पूर्ण है और इस उपकरण द्वारा लिखित या फिर मौखिक रूप से छात्रों में शारीरिक एवं बौद्धिक विकास संभव है और अब यह प्रक्रिया प्रिन्ट मीडिया, इलेक्ट्रानिक मेल, वाइस मैसेज, फिल्मों, विज्ञापनों द्वारा टेलीविजन एवं मोबाइल माध्यमों द्वारा संचालित/प्रसारित की जाती हैं। साथ ही यह जनसंचार प्रक्रियाएँ जितनी प्राचीन हैं उतनी ही नवीन भी हैं। अवाचिक एवं वाचिक संचार प्रक्रियाओं में मशीनी तकनीक के सहयोग से कोई भी व्यक्ति अपने विचार, संदेशों, एवं सूचनाओं को एक ही समय में न सिर्फ छात्राओं को बल्कि हजारों, लाखों व्यक्तियों तक अलग-अलग स्थानों पर सम्प्रेषित कर सकता है। शिक्षा के क्षेत्र में जनसंचार माध्यमों की उपयोगिता बढ़ने से इसका एक अलग स्वरूप ही सामने आया है क्योंकि जागरूकता ही समाज के विकास में प्रकार्यात्मक योगदान दे सकती है। शिक्षा के क्षेत्र में आधुनिक जनसंचार माध्यमों में मुद्रण माध्यम, इलेक्ट्रानिक माध्यम, पत्र पत्रिकाएँ, पुस्तकें, पोस्टर, पम्पलेट, इंटरनेट, टेलीविजन, मोबाइल, कम्प्यूटर, उपग्रह आदि को सम्मिलित किया जा सकता है। प्रस्तुत शोध पत्र का उद्देश्य भोपाल नगर के शासकीय विद्यालयों की छात्राओं द्वारा जनसंचार माध्यमों का उपयोग, उनको विद्यालय शिक्षा के लिए उपयोगी जनसंचार माध्यमों की जानकारी का आकलन करना, शिक्षा के क्षेत्र में जनसंचार के प्रभावी माध्यमों का पता लगाना, व जनसंचार माध्यमों द्वारा शिक्षा के क्षेत्र में छात्राओं के व्यवहार में आये शैक्षणिक परिवर्तन का अध्ययन करना है। इसके लिये शासकीय विद्यालयों की उन छात्राओं को उत्तरदाता के रूप में चयन किया गया जो कि उस समय हाईस्कूल में नामांकित रही हो। छात्राओं की आयु 14 वर्ष से अधिक एवं 25 वर्ष से कम हो। सभी छात्राओं द्वारा जनसंचार के किन्हीं पाँच माध्यमों का प्रयोग अवश्य करती है जिनमें फोन टेलीविजन, कम्प्यूटर, रेडियों और समाचार पत्र सम्मिलित है। शोध में कुल 60 छात्राओं की उत्तरदाता के रूप में भागीदारी सुनिश्चित की गयी। शोध में चयनित सभी उत्तरदाता भोपाल नगर स्थित शासकीय विद्यालय की छात्राएँ हैं और सभी उत्तरदाताओं की सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और शैक्षणिक पृष्ठभूमि में भिन्नता होने के बावजूद समानता ये सभी निम्नवर्ग से हैं। यह अध्ययन भोपाल नगर के 6 शासकीय विद्यालयों की हाईस्कूल की 60 छात्राओं पर साक्षात्कर अनुसूची पर आधारित उद्देश्यपूर्ण निदर्शन विधि का प्रयोग करते हुए किया गया है।

शिक्षा के क्षेत्र में जनसंचार माध्यमों का उपयोग

जनसंचार माध्यमों में ज्यादातर छात्राएं मुख्य रूप से मोबाईल फोन का प्रयोग करती हैं। कुल 60 उत्तरदाताओं में से लगभग 81.66 प्रतिशत उत्तरदाओं ने बताया कि वह मोबाईल का प्रयोग कई स्वरूप में करते हैं। इंटरनेट का प्रयोग करने वाले 80.00 प्रतिशत उत्तरदाता हैं इनमें से रेडियों का प्रयोग करने वाले 65 प्रतिशत हैं और कम्प्यूटर का प्रयोग करने वाले 55 प्रतिशत उत्तरदाता हैं। इसके साथ ही कुछ उत्तरदाता अपने परम्परागत संचार माध्यमों को अभी भी अपना कर रखे हुए हैं। 80 प्रतिशत छात्राएं अभी भी अखबार को मुख्य जनसंचार माध्यम मानती हैं। वर्तमान में टेलीविजन भी संचार का सशक्त माध्यम है व 65 प्रतिशत छात्राएं इसका प्रयोग करती हैं।

उत्तरदाताओं से यह जानने का प्रयास किया गया कि क्या शिक्षा के क्षेत्र में जनसंचार का बेहतर उपयोग हो सकता है? सर्वाधिक 17 (28.33 प्रतिशत) उत्तरदाताओं ने बताया कि मनोरंजन में तो जनसंचार प्रथम नम्बर पर है जबकि अन्य उत्तरदाओं ने शिक्षा एवं सूचना के क्षेत्र में भी इसे सहायक बताया। कुल 11 (18.33 प्रतिशत) उत्तरदाताओं ने जनसंचार माध्यम को सूचनाओं के आदान-प्रदान में महत्वपूर्ण माना है। सूचनाओं के आदान-प्रदान के माध्यमों में मोबाईल फोन, बेसिक फोन, इंटरनेट, कम्प्यूटर, टेलिविजन एवं रेडियों तथा समाचार पत्र सर्वाधिक महत्वपूर्ण माध्यम है। आज की परिस्थितियाँ पूर्व की तुलना में आधुनिकता की ओर तीव्रता से अग्रसर हो रही हैं। शैक्षणिक क्षेत्र में निरंतर नए-नए प्रयोग हो रहे हैं इनमें विविधता के साथ-साथ आधुनिकता लाने का प्रयास भी किया जा रहा है। शासकीय प्रयासों में भी जनसंचार के माध्यमों पर अधिक बल दिया जा रहा है।

शिक्षा के क्षेत्र में आधुनिक जनसंचार का प्रभाव

आधुनिक शिक्षा युवाओं पर अपना ध्यान केन्द्रित करती आयी है और यह बहुत ही सामान्य सी बात है कि भारतीय समाज के इसी आधुनिक सामाजिक चक्र में अंग्रेजी भाषा सभ्यता का आवरण बनती जा रही है। आज अंग्रेजी भाषा, अंग्रेजी रहन-सहन और आधुनिक तकनीक उपकरण सामाजिक प्रतिष्ठा का प्रतीक बन कर रह गये हैं। इसी तारतम्य में 17 प्रतिशत छात्राओं का मानना है कि कम्प्यूटर माध्यम, स्मार्ट फोन और टेलीविजन पर प्रसारित कार्यक्रम ही शिक्षा पर ज्यादा असर डालते हैं। जबकि 8 प्रतिशत छात्राएं अंग्रेजी और कम्प्यूटर से शिक्षा प्राप्त करने को ही सबसे ज्यादा असरदार माध्यम मानते हैं। साथ ही 9 प्रतिशत वो बालिकाएं हैं जो अंग्रेजी और कम्प्यूटर कर कार्य मोबाईल/या स्मार्ट फोन के माध्यम से कर लेती हैं। वही 5 प्रतिशत वे छात्राएँ हैं जो अंग्रेजी को ही शिक्षा में जनसंचार का सशक्त माध्यम मानती हैं।

आज के शैक्षणिक एवं व्यवहारिक क्षेत्र में जनसंचार माध्यमों का बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान है। शासकीय विद्यालयीन छात्राओं द्वारा मुख्यतः अखबार पत्रिकाएं, टेलीफोन, मोबाईल एवं कम्प्यूटर प्रमुख रूप से आते हैं। संचार माध्यम मनुष्य के स्वाभाविक जिज्ञासु प्रवृत्ति को और अधिक जिज्ञासु बना देता है, छात्र इसे साकार रूप देने के लिए इन सभी संचार माध्यमों का सहारा लेता है।

शिक्षा के क्षेत्र में जनसंचार माध्यमों के प्रयोग से छात्राओं के व्यवहार में परिवर्तन

जब सभी 60 उत्तरदाताओं से जब यह पूछा गया कि जनसंचार माध्यमों के प्रयोग से छात्राओं के व्यवहार में क्या परिवर्तन हुआ? तो इस पर सभी ने भिन्न-भिन्न प्रकार के उत्तर दिए। सर्वाधिक 30 प्रतिशत छात्राओं ने बताया कि जनसंचार माध्यम से शिक्षा अत्यन्त प्रभावी, विश्वस्त एवं व्यवहारिक

हो जाती है जिससे कि यह अत्यधिक सहज एवं सरल हो जाती है। जबकि 23.33 प्रतिशत छात्राओं ने यह नहीं माना की जनसंचार माध्यम छात्राओं के व्यवहार में परिवर्तन लाने में सफल रहा है। परन्तु वह फिर भी टेलीविजन और संचार के अन्य तकनीकी माध्यमों का प्रयोग करते हैं। बहुत सी ऐसी छात्राएं हैं जो संचार के माध्यमों से अवगत तो हैं, किन्तु संचार माध्यमों की सुविधाओं से अछूती है। शासकीय विद्यालयों में भी इसकी उपलब्धता सीमित है।

शिक्षा के क्षेत्र में अपनाये जाने वाले प्रभावी जनसंचार माध्यम

शिक्षा के क्षेत्र में नित नये प्रयोग किये जाते रहे हैं और जैसे ही ये प्रयोग होते हैं, बाजारीकरण की वजह से इसकी उपलब्धता प्रदर्शित हो ही जाती है। वर्तमान में अधिकतर उत्तरदाताओं ने यह माना की जनसंचार माध्यमों में सबसे सशक्त माध्यम फिल्में (33 प्रतिशत) हैं, क्योंकि फिल्मों में भी समाज ही प्रतिबिम्बित होता है। इसके पश्चात सबसे सशक्त माध्यम स्मार्टफोन (30 प्रतिशत) है, क्योंकि इसके माध्यम से व्यक्ति न केवल बात कर सकता है अपितु यह कम्प्यूटर और टेलीविजन का भी काम करता है। मनोरंजन के सारे साधन इस छोटे से फोन में ही उपलब्ध हो जाते हैं। जबकि अखबार, जर्नलस/पत्रिकाएं/पैम्पलेटस (11.66 प्रतिशत) अपेक्षाकृत कम महत्वपूर्ण माध्यम हैं।

जनसंचार के मुख्य रूप से ऐसे माध्यम हैं जो आधुनिक शिक्षा में अपनी अहम भूमिका निभा रहे हैं। इनमें से फिल्मों को 96.66 प्रतिशत छात्राओं ने सही माना है, वहीं 95 प्रतिशत छात्राएं आज भी रेडियों को संचार का सशक्त माध्यम मानती हैं जिसमें प्रसारित होने वाले कार्यक्रमों में क्षेत्रीय समाचार, प्रादेशिक कार्यक्रम, कृषि सम्बन्धी समस्याओं के समाधान आदि मुख्य रूप से शामिल हैं। और जहां तक अखबार का प्रश्न है, आज भी 91.66 प्रतिशत लोग जीवन की कठिनाईयों का हल अखबार में ढूंढते हैं, जैसे विज्ञापन, नवीन जानकारीयां, योजनाएं चाहे इनका संचालन/क्रियान्वयन हो या फिर नयी योजनाओं से सम्बन्धित जानकारीयाँ जो कि आसानी से उपलब्ध हो जाती हैं। शिक्षा सदैव से ही व्यक्तित्व के विकास में सहायक रही है और यदि शिक्षा और जनसंचार माध्यम दोनों ही किसी व्यक्ति को विकसित करने में लग जाए तो इसके और भी अधिक सकारात्मक पहलू दिखाई देते हैं। जब सभी उत्तरदाताओं से यह पूछा गया कि क्या जनसंचार माध्यमों द्वारा आधुनिक शिक्षा को और सकारात्मक एवं प्रभावी बना सकते हैं तो 46.60 प्रतिशत उत्तरदाताओं के उत्तर उत्साह जनक और सकारात्मक रहे। सिर्फ 10 प्रतिशत छात्राओं के उत्तर 'बिल्कुल नहीं' में थे, इससे यह सिद्ध होता है कि संचार माध्यमों को शिक्षा के विभिन्न पहलुओं से जोड़कर अत्यन्त प्रभावी बनाया जा सकता है।

निष्कर्ष

शिक्षा के वैज्ञानिक दृष्टिकोण से छात्र सदैव जनसंचार माध्यमों का उपयोग करते ही हैं। जिससे छात्राओं को संचार के माध्यमों और उपकरणों से स्वयं को शिक्षा की वास्तविकता और व्यवहारिकता का ज्ञान आसान से प्राप्त हो जाता है। वास्तव में वर्तमान परिप्रेक्ष्य में, शिक्षा के क्षेत्र में संचार को यदि पृथक कर दिया जाए तो शिक्षा में एक कमी का अहसास होता है और आधुनिक शिक्षा जो वर्तमान में विश्व को 'संचार समाज' की संज्ञा देती है अधूरी रह जायेगी। आधुनिक जनसंचार माध्यम शिक्षा और समाज को आधुनिक तकनीकों के माध्यम से युवाओं को न सिर्फ राष्ट्र विकास की ओर अग्रसर करता है, बल्कि इसके कारण युवावर्ग की पारम्परिक शिक्षा पद्धति में बदलाव आया है जैसे

शासकीय विद्यालयों में टेलीविजन और फिल्मों के प्रसारण, विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी प्रदर्शनी, कम्प्यूटर एवं इंटरनेट के माध्यम से शिक्षा में उपयोगिता लाना है। आज का युवा कई आधुनिक तकनीकी माध्यमों से गिरफ्त में है चाहे वह शिक्षा के क्षेत्र में हो या मनोरंजन के क्षेत्र में या फिर सूचना का क्षेत्र हो जनसंचार सभी क्षेत्रों में शिक्षा के साथ-साथ अपना महत्व सिद्ध कर चुका है। लगभग आधी छात्राओं का मानना है कि इंटरनेट और कम्प्यूटर के माध्यम से आधुनिक शिक्षा प्रणाली को और अधिक बेहतर बनाया जा सकता है साथ ही शिक्षा के प्रत्येक क्षेत्र में इसके बदलावों की अपनाया भी जा रहा है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

Johnsons, Allan G. 2014: *The Gender Knot: Understanding Our Patriarchal Legacy*, Temple University Press, Philadelphia.

Handel, Gerald, Spencer Cahill, and Frederick Elkin. 2007. *Children and society: The Sociology of Children and Childhood*, London: Oxford University Press.

आई.एस.एस.एन. संख्या : 2454-2458

नवरचना NAVRACHNA

www.grefiglobal.org/journals/navrachna.2018

वर्ष 4, अंक 1-2, जून-दिसम्बर 2018, पृ. 48-51

महिला एवं विकास: अवधारणात्मक परिवर्तन

छाया*

विगत वर्षों में विकास कार्यक्रमों की इस बात को लेकर आलोचना होती रही है कि उनमें लिंग भूमिकाओं (Gender role) तथा इनके वैश्वीकृत दक्षिणीय भाग में महिलाओं पर पड़ने वाले प्रभावों की उपेक्षा की जाती रही है। यद्यपि गरीबी उन्मूलन और निम्न सामाजिक आर्थिक प्रस्थिति में सुधार हेतु चलाये जाने वाले विकास कार्यक्रमों में महिलाओं का एकीकरण करने के प्रयास में एक अवधारणात्मक परिवर्तन स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता है। इस सन्दर्भ में छः अवधारणात्मक उपागम चिन्हित किये गये हैं: (1) कल्याणकारी उपागम (Welfare approach); (2) विकास में महिलाएं (Women in Development); (3) महिला एवं विकास (Women and Development); (4) लिंग एवं विकास (Gender and Development); (5) प्रभावशील उपागम (The effectiveness approach); तथा (6) मुख्यधारा विषयक लैंगिक समानता (Mainstream gender equity)। प्रस्तुत शोध पत्र में इन सभी अवधारणात्मक उपागमों पर प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है।

वर्ष 1972 में ऐन ओकले ने 'सैक्स' तथा 'जेन्डर' शब्द में अन्तर करने में सफलता प्राप्त की। वास्तव में इनका समानार्थी अथवा पर्यायवाची के रूप में प्रयोग किया जाता रहा है। जहाँ 'जेन्डर' का सम्बन्ध पुरुषत्व तथा स्त्रीत्व पर आधारित किसी व्यक्ति की 'सैक्सुलिटी' से है वहीं सैक्स (लिंग) का सम्बन्ध किसी व्यक्ति की दैहिक संरचना के जैवकीय गुणों से है। 'जेन्डर' शब्द की लोकप्रियता व अधिकाधिक प्रयोग के साथ इसके वास्तविक अर्थ का दुरुपयोग भी किया जाने लगा। उदाहरण के लिए अधिकतर विकास अभिकरण तथा गैर सरकारी संगठन प्रायः इसका प्रयोग प्रमुख रूप से महिला विषयक मुद्दों की चर्चा में करते रहे हैं। वर्तमान में इसकी लोकप्रियता में अधिक वृद्धि हुई है तथा इसका प्रयोग राजनीतिक, आर्थिक, पर्यावरण तथा स्वास्थ्य जैसे व्यापक क्षेत्रों में भी किया जाने लगा है।

1. कल्याणकारी उपागम

सामाजिक सभ्यता अथवा "कल्याणकारी उपागम" का प्रादुर्भाव 1950 से 1970 के दशकों में अधिकतर अफ्रीकी की और एशियाई देशों के उपनिवेशवाद की समाप्ति तथा राजनीतिक संक्रमण काल में हुआ था। कल्याणकारी उपागम इन नये स्वतन्त्र देशों में प्रत्येक में स्थानीय अभिजनों तथा

*शोध छात्रा, समाजशास्त्र विभाग, चौधरी चरण सिंह विश्वविद्यालय, मेरठ- 250 004 उ. प्र.।

सामान्य जन के बीच असमानताओं के परिणाम का प्रत्युत्तर थी। अधिकतर अन्तर्राष्ट्रीय अभिकरणों ने उन राष्ट्रों के विकास हेतु सहायता एवं एक पश्चिमी उपागम प्रयोग किया जिनमें से आधुनिकीकरण सिद्धान्त तथा माल्थसवादी (जनसंख्या प्रति संसाधन) सिद्धान्त प्रमुख हैं। परन्तु इन सिद्धान्तों से प्रभावित विकास नीतियों ने इन विकासशील देशों में नकारात्मक परिणाम उत्पन्न किये तथा इन देशों की प्रगति में और अधिक बाधा पहुंचायी तथा इस उपागम में महिलाओं के विकास हितों की पूर्ण रूप से उपेक्षा की गयी।

2. विकास में महिलाएं (WID) उपागम

इस उपागम की उत्पत्ति के पीछे तीन बड़े नारीवादी आन्दोलन/लहरें हैं जिनका सम्बन्ध समाज में नारी की दशाओं से रहा है। इनमें से पहली लहर को महिला मताधिकार आन्दोलन के नाम से भी जाना जाता है जिसका जन्म 19वीं शताब्दी के अन्त में उस समय हुआ जब महिलाओं ने समान मताधिकार के लिए संघर्ष तथा राजनीति में सहभागिता के लिए संघर्ष किया। नारीवाद की दूसरी लहर का जन्म उस समय हुआ जब महिलाओं द्वारा सामाजिक तथा सांस्कृतिक क्षेत्रों में व्याप्त उन असमानताओं, जैसे—लैंगिक हिंसा (Sexual violence), प्रजनन अधिकारों (Sexual rights), लिंग-भेद (Sex discrimination) तथा 'ग्लास सिलिंग' (Glass ceiling), का हल खोजने का प्रयास किया गया, जिसका उन्हें रोजमर्रा की जिन्दगी में सामना करना पड़ता है। यह दूसरी लहर बहुत ही विवादास्पद रही है। यद्यपि यह महिला आन्दोलन इतना अधिक प्रभावी था कि संयुक्त राष्ट्र संघ ने 1975 में प्रथम विश्व महिला सम्मेलन का मैक्सिको में आयोजन किया। इस सम्मेलन में महिलाओं के अधिकारों का समर्थन करने व लिंग असमानताओं की समस्या पर गम्भीरता से विचार किया गया। तीसरी महत्वपूर्ण लहर का उद्भव ईस्टर बोजेरप (1970) द्वारा प्रकाशित पुस्तक "वुमेन्स रोल इन इकॉनॉमिक डवलपमेन्ट" से हुआ। इस पुस्तक से उत्तरीय विकास अभिकरणों व मानवीय संगठनों को गहरा झटका लगा। बोजेरप ने अनुभवाश्रित तथ्यों के आधार पर यह बताया कि किस प्रकार से विकासशील देशों में विकास के नाम पर विभाजन महिलाओं के कार्य के मूल्य तथा प्रस्थिति को कमतर आंकता है अथवा इसकी उपेक्षा करता है। यह इस बात की व्याख्या करता है कि महिलाओं को सामाजिक तथा आर्थिक लाभों में पुरुषों के मध्य समान भाग प्राप्त करने से क्यों वंचित किया जा रहा है। बोजेरप की इस पुस्तक ने महिलाओं को विकास उपागम में अधिक दृष्टिगोचर होने तथा महिलाओं के विकास में उन्हें एक विशेष श्रेणी की तरह देखे जाने को प्रभावित किया। 1973 में संयुक्त राज्य अमेरिका ने एक बिल पारित किया। जिसके अनुसार यूनाइटेड स्टेट एजेन्सी फॉर इन्टरनेशनल डवलपमेन्ट (USAID) ने विदेशी सहायता प्राप्त करते समय विकास कार्यक्रमों में महिला सम्बन्धी गतिविधियों को एकीकृत करने का प्रावधान रखा गया। डबल्यू. आई. डी. उपागम महिलाओं की श्रम शक्ति में महिलाओं को जोड़ने तथा उनके जीवन को सुधारने के लिए उनकी उत्पादक क्षमता में वृद्धि करने को आश्वस्त करता है। यद्यपि कुछ विद्वान इस उपागम की आलोचना करते हुए इसको पश्चिमी समाज से अधिक प्रभावित मानते हैं। क्योंकि यह दृष्टिकोण दक्षिणी विश्व के बारे में उत्तरी विश्व के बोध का प्रतिनिधित्व करता है तथा यह विकासशील देशों में महिलाओं के सामूहिक व सांस्कृतिक सारोकारों को समझने में असफल रहा है। इस उपागम को महिलाओं के लिए बोझिल मान लिया गया है क्योंकि यह प्रमुख रूप से सार्वजनिक क्षेत्र के सारोकारों पर अधिक केन्द्रित है तथा उनके निजी जीवन की गत्यामकता को समझने में पूर्णतया असफल है।

3. महिला एवं विकास (WAD) उपागम

इस उपागम का जन्म 1975 में मैक्सिको शहर में उस समय हुआ था जब वहाँ महिलाओं से सम्बन्धित मुद्दों को नव-मार्क्सवादी तथा निर्भरता सिद्धान्त के परिप्रेक्ष्य में समझने का प्रयास किया गया। इसका केन्द्र बिन्दु महिलाओं तथा पूंजीवादी विकास के मध्य सम्बन्ध की उनके शोषण में योगदान करने वाली भौतिक परिस्थितियों के सन्दर्भ में व्याख्या करना था। कई बार 'महिला और विकास' की 'विकास में महिलाएं' परिप्रेक्ष्य के रूप में गलत व्याख्या की जाती है जबकि ये दो अलग-अलग परिप्रेक्ष्य हैं। जबकि 'विकास और महिलाएं' इस अर्थ में अलग है कि यह विशेष रूप से अपना ध्यान पितृसत्तामकता तथा पूंजीवाद के मध्य सम्बन्ध पर केन्द्रित करता है। इस परिप्रेक्ष्य के अनुसार महिलाएं सदैव आर्थिक विकास की प्रक्रिया में सहभागिता व योगदान करती हैं चाहे वह सार्वजनिक रूप से हो अथवा निजी जीवन के दायरे में हो।

4. जेन्डर तथा विकास (GAD) उपागम

इस उपागम का विकास 1980 के दशक में समाजवादी नारीवाद (Socialist feminism) के द्वारा किया गया। इसका प्रयोग एक संक्रमण कालीन बिन्दु की तरह से किया गया जिसमें नारीवादी विकास को समझना चाहते थे। इसने विकास की सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक यथार्थता के व्यापक मूल्यांकन का कार्य किया। इसका उद्भव पहले ही 'डवलपमेन्ट अल्टरनेटिव्स विद वीमेन फॉर ए न्यू ईरा' (DAWD) नेटवर्क की पहल से 1984 में भारत में हो चुका था। 1986 में इस संगठन ने अपना पहला महिला सम्मेलन नैरोबी में किया। इस सम्मेलन में दक्षिणी भूभाग के नारीवादी अनुसंधानकर्ता और एक्टिविस्ट एकत्रित हुए जिनकी अपना एक समान दृष्टिकोण था। उन्होंने एक मसौदा तैयार किया तथा अनेकों कार्यशालाओं का आयोजन किया। इस संगठन ने पिछले तीन दशकों में चार परस्पर सम्बन्धित विश्व संकटों पर अपना ध्यान केन्द्रित करते हुए भुखमरी, कर्ज, सेनावाद तथा साम्प्रदायिकता का अध्ययन किया तथा विकासशील देशों की गरीब महिलाओं पर इसके प्रभावों की आलोचनात्मक व्याख्या प्रस्तुत की। वर्तमान में इस संगठन के चार प्रमुख लक्ष्य व गतिविधियां हैं (1) वैश्वीकरण की राजनीतिक आर्थिकी (PEG) (2) लैंगिक तथा प्रजनात्मक स्वास्थ्य और अधिकार (SRHR) (3) राजनीतिक पुनर्रचना और सामाजिक रूपांतरण (PRST) (4) राजनीतिक परिस्थितिकी तथा संवहनता (PEAS)। जेन्डर उपागम न केवल पुरुष व स्त्रियों में लैंगिक आधार पर जैवकीय असमानताओं पर ध्यान केन्द्रित करता है अपितु इस बात पर भी बल देता है कि किस प्रकार से सामाजिक भूमिकाएं, प्रजनन भूमिकाएं तथा आर्थिक भूमिकाएं पुरुषवाद व नारीवाद की जेन्डर असमानताओं से सम्बन्धित हैं।

5. प्रभाववादी उपागम

इस उपागम का उद्भव भी 1984 के दशक में ही हुआ था। इसके विचार मूलतः 'विकास में महिलाएं' की अवधारणा के इर्द-गिर्द ही जुड़े हैं जिसका सम्बन्ध इस बात से है कि कैसे महिलाएं समाज में व्याप्त असमानताओं का सामना करती हैं तथा किस प्रकार समाज आर्थिक विकास में महिलाओं के प्रभाव को ज्ञापित करने में असफल रहा है। इस प्रकार से यह न केवल महिलाओं को विकास परियोजनाओं में सम्मिलित करने का प्रयास करता है अपितु उनकी उत्पादकता के स्तर तथा श्रम बाजार में उनकी प्रभावशीलता को भी सुदृढ़ करता है। इसके लिए यह अधिसंरचनाओं तथा

उपकरणों के विकास पर बल देता है जो कि महिलाओं की आमदनी तथा उत्पादकता को बढ़ाने में सहायक है (विशेष रूप से ग्रामीण क्षेत्रों की महिलाओं में)।

6. मुख्यधारा विषयक लैंगिक समानता (MGE) उपागम

यह उपागम महिलाओं को लक्ष्य में रखते हुए एक नये विकासवादी दृष्टिकोण को प्रस्तुत करता है। 'जेन्डर मेनस्ट्रीमिंग' इस बात के लिए आश्वस्त करती है कि सभी जेन्डर मुद्दों पर विचार किया जाये तथा इन्हें समाज में सभी स्तरों पर एकीकृत किया जाये। इसका उद्भव 1995 में चतुर्थ 'संयुक्त राष्ट्र महिला सम्मेलन बिजिंग (चीन) में हुआ था। इस मंच पर 189 राज्यों के प्रतिनिधि इस बात पर सहमत हुए थे कि राष्ट्रीय आर्थिक वृद्धि तथा विकास में सफलता तथा प्रगति करने का एक ही मार्ग है कि प्रत्येक विकास परियोजना में पुरुषों व महिलाओं दोनों की समान रूप से सहभागिता हो। इसके साथ ही कई विकास अभिकरणों ने 'विकास में महिलाएं' उपागम को त्याग कर इस नवीन उपागम को अपनाने पर बल देना प्रारम्भ किया है। अतः वर्तमान में विकास सम्बन्धी आंकड़ों (जैसे शिक्षा, स्वास्थ्य व रोजगार) के संकलन व उन पर आधारित रिपोर्टों के प्रकाशन में स्त्री व पुरुष दोनों से संबन्धित आंकड़ों को स्थान दिया जाने लगा है।

निष्कर्ष

अतः स्पष्ट है कि विकास के संदर्भ में जहाँ पहले महिलाओं की भूमिका की उपेक्षा की गई थी वहीं उनके विकास में योगदान को लेकर कई तरह के उपागम कालान्तर में विकसित हुए। समय के साथ-साथ उनकी समीक्षा भी की जाती रही। कहीं-कहीं यह अति नारीवाद का भी शिकार होती प्रतीत होती है। परन्तु इस दिशा में 'जेन्डर तथा विकास' व 'मुख्यधारा विषयक लैंगिक समानता' के प्रमुख उपागम हैं जिन्हें सर्वाधिक मान्यता प्राप्त है। समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से भी ये उपागम अध्ययन करने के लिए अत्यधिक उपयोगी कहे जा सकते हैं।

टिप्पणी

¹ A ceiling based on attitudinal or organizational bias in the work force that prevents minorities and women from advancing to leadership positions.

संदर्भ ग्रन्थ सूची

- बोजेरप, ईस्टर 1970: *वीमेन्स रोल इन इकोनोमिक डवलपमेन्ट*, न्यूयार्क, सेंट मार्टिन्स प्रेस।
 ओकले, एन रोजामंड 1972: *सेक्स, जेन्डर एण्ड सोसायटी*, एल्डर शॉट एरेना व न्यू सोसायटी।
<http://cnzcollins.wordpress.com/2013/03/19/the-wid-wad-gad.app>
<http://www.wikigender.org/wiki/development.alternative-with-women-for-a-new-era-dawn/>

आई.एस.एस.एन. संख्या : 2454-2458

नवरचना NAVRACHNA

www.grefiglobal.org/navrachna.php

वर्ष 4, अंक 1-2, जून-दिसम्बर 2018, पृ. 52-60

वैश्विक रूपान्तरण : अवधारणात्मक प्रारूप

वीरेन्द्र पाल सिंह*

यद्यपि 'वैश्वीकरण' शब्द का उदभव 1960 के दशक में फ्रांसिसी व अमेरिकी रचनाओं में हुआ था परन्तु आज यह अवधारणा विश्व की सभी भाषाओं में पायी जाती है। फिर भी इसको अभी भी निश्चित रूप से परिभाषित नहीं किया जा सका है। वास्तव में यह एक वृहद अवधारणा है जिसके अर्न्तगत वैश्विक वित्तीय बाजारों से लेकर इन्टरनेट तक सभी कुछ सम्मिलित कर लिया जाता है। परन्तु यह आज की मानवीय दशाओं के विषय में कुछ अधिक अर्न्तदृष्टि देने में असमर्थ है। 1980 के दशक के अन्त में तथा 1990 के दशक में 'वैश्वीकरण' एक प्रमुख अवधारणात्मक प्रारूप के रूप में उभरता दिखायी पड़ता है तथा विभिन्न दार्शनिकों व समाज वैज्ञानिकों के साथ-साथ विभिन्न देशों के आर्थिक विकास के प्रारूप में भी इसकी चर्चा हर जगह की जाने लगी। इस सन्दर्भ में वैश्वीकरण की अवधारणा के विश्लेषणात्मक प्रारूप को समझने की आवश्यकता है। यद्यपि इस सन्दर्भ में कई प्रारूप विकसित किये गये हैं परन्तु डेविड हैल्ड व उनके साथियों (1999) द्वारा विकसित अवधारणात्मक प्रारूप वैश्वीकरण के अनुभवाश्रित अध्ययन एवं विश्लेषण के लिये अत्यधिक उपयोगी है। प्रस्तुत शोधपत्र में डेविड हैल्ड व उनके साथियों द्वारा विकसित वैश्वीकरण के अवधारणात्मक प्रारूप का विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है।

इस प्रारूप में वैश्वीकरण को समझने के लिये हैल्ड आदि द्वारा कुछ केन्द्रीय प्रश्नों को उठाया गया है जो कि निम्नलिखित हैं।

- वैश्वीकरण क्या है? इसे किस प्रकार से परिकल्पित किया जाना चाहिये?
- क्या समकालीन वैश्वीकरण एक नवीन दशा का प्रतिनिधित्व करता है?
- क्या वैश्वीकरण का सम्बन्ध राष्ट्र राज्य के अन्त, पुनरुत्थान अथवा रूपान्तरण से है?
- क्या समकालीन वैश्वीकरण राजनीति की नयी सीमाओं का निर्धारण करता है? वैश्वीकरण को किस प्रकार से 'सभ्य' तथा 'लोकतांत्रिक' बना सकते हैं?

ये सभी प्रश्न वैश्वीकरण के समकालीन विवेचन तथा परिणामों से सम्बन्धित अनेक विवादों व बहसों के मूल में निहित हैं।

सामान्य रूप से वैश्वीकरण को परिवर्तन की एक ऐसी प्रक्रिया के रूप में देखा जा सकता है जो विश्व के सभी क्षेत्रों में आर्थिक, तकनीकी, राजनीति, संचार माध्यम, संस्कृति तथा पर्यावरण आदि

*प्रोफेसर एवं पूर्व विभागाध्यक्ष, वैश्वीकरण एवं विकास अध्ययन केन्द्र, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद- 211002 उ. प्र.।

सभी को विभिन्न तरीकों से प्रभावित करती है। डेविड हैल्ड व उनके सहयोगियों (1999: 2) के अनुसार, "वैश्वीकरण को प्रारम्भिक रूप से समकालीन सामाजिक जीवन के सभी पक्षों—सांस्कृतिक से आपराधिक, वित्तीय से आध्यात्मिकता में विश्वव्यापी अन्तःसंबद्धता के विस्तारीकरण, (widening) गहनीकरण (deepening) तथा तीव्रीकरण (speeding up) के रूप में विचारा जा सकता है।" विद्वानों में वैश्वीकरण के अन्तःसंबद्धता वाले पक्ष पर तो सहमति है परन्तु इसके अन्य पक्षों पर उनमें भारी मतभेद हैं। डेविड हैल्ड आदि ने वैश्वीकरण पर कार्य करने वाले विद्वानों को तीन प्रमुख श्रेणियों में विभाजित किया है: अतिशयवादी; संशयवादी तथा रुपान्तरणवादी (सिंह 2004; 2007)।

वैश्वीकरण पर अतिशयवादी सोच रखने वाले विद्वानों का विश्वास है कि वैश्वीकरण मानव इतिहास में एक नये युग का प्रतिनिधित्व करता है, जिसमें सभी प्रकार के सम्बन्ध राष्ट्र-राज्यों से ऊपर उठ कर विश्व स्तर पर एकीकृत हो रहे हैं तथा इसके परिणामस्वरूप इन्हें (राष्ट्र-राज्यों को) निरन्तर अप्रासंगिक बना रहे हैं। पूंजी, वस्तुओं, व्यक्तियों तथा विचारों के निरन्तर बढ़ रहे सीमापार प्रवाह इस युग को पुनः दो उप-श्रेणियों में रखा जा सकता है। सकारात्मक अतिशय वादी तथा नकारात्मक अतिशयवादी। सकारात्मक अतिशयवादी मुख्य रूप से वे विद्वान हैं जो खुले विश्व बाजार की वकालत करते हैं और यह मानते हैं कि यह प्रक्रिया भविष्य में चरम आर्थिक वृद्धि की गारंटी देगी तथा दीर्घकाल में, प्रत्येक व्यक्ति के जीवन स्तर में सुधार ले आयेगी (ओहमे 1991; 1995); तथा नकारात्मक अतिशयवादी जिनमें प्रमुख रूप से आलोचनावादी चिंतक (critical theorists) तथा नव-मार्क्सवादी विद्वान (मार्टिन एवं शू मैन 1997; रीच 1991; बैक 1997; स्नेपर 1994; वाइजमैन 1997, हॉपकिन्स व वालेरस्टीन 1996) सम्मिलित हैं, वैश्वीकरण के नकारात्मक प्रभावों को आलोचनात्मक रूप से प्रस्तुत करते हुए वैश्वीकरण की अवधारणा को पूर्णरूप से अस्वीकृत कर देते हैं।

संशयवादी विद्वान भी वैश्वीकरण के आर्थिक पक्ष पर ही अपना ध्यान केन्द्रित करते हुए यह तर्क देते हैं कि इस अन्तराष्ट्रीय आर्थिक एकीकरण की प्रक्रिया में कुछ भी नया नहीं है। प्रथम विश्व युद्ध के पूर्व काल से इसकी तुलना की जा सकती है। वे वैश्वीकरण के स्थान पर 'अन्तराष्ट्रीयकरण' शब्द का प्रयोग करना सही मानते हैं (हिस्टर्ट एवं थाम्पसन 1996; वीज़ 1997)। वे यह भी तर्क देते हैं कि राष्ट्र-राज्यों की भूमिका अभी भी उतनी है मजबूत है जितनी हमेशा रही है।

रुपान्तरणवादी विद्वान जबकि यह तर्क देते हैं कि उन सभी प्रमुख आर्थिक, सांस्कृतिक, सामाजिक तथा राजनीतिक परिवर्तनों, जो आज विश्व के सभी व्यक्तियों का आभासी रूप से (virtually) प्रभावित कर रहे हैं, की केन्द्रीय संचालक शक्ति वैश्वीकरण है। वे वैश्वीकरण को तकनीकी, आर्थिक गतिविधि, शासन-विधि (governance), संचार आदि के क्षेत्रों में परिवर्तन की निकट रूप से जुड़ी हुई प्रक्रियाओं के कुल परिणाम के रूप में देखते हैं। इन सभी क्षेत्रों में होने वाले विकास परस्पर सुदृढ़ता प्रदान करने वाले अथवा स्वतुल्य (reflexive) होते हैं जिससे कि कारण तथा परिणाम के मध्य कोई भेद नहीं किया जा सकता। रुपान्तरवादी (व्यापार, निवेश, प्रवजन, सांस्कृतिक शिल्पकृतियों (artifacts), पर्यावरणीय कारकों आदि के) सीमापार प्रवाहों के समकालीन प्रतिमानों को किसी भी ऐतिहासिक दृष्टान्त से भिन्न मानते हैं। इस प्रकार के प्रवाह सभी राष्ट्रों को आभासी रूप से एक विश्व व्यवस्था में एकीकृत करते हैं तथा सभी स्तरों पर एक बड़ा परिवर्तन लाते हैं। इस प्रकार वैश्वीकरण का प्रभाव केवल आर्थिक तथा राजनीतिक प्रक्रियाओं तक ही सीमित नहीं है अपितु इसके प्रभाव को संचार तथा सामाजिक व सांस्कृतिक संस्थाओं पर भी देखा जा सकता है।

वैश्वीकरण से सम्बन्धित बहस में व्याप्त इन तीन प्रमुख प्रवृत्तियों को डेविड हैल्ड व उनके साथियों ने निम्नलिखित तालिका में प्रस्तुत किया है:

	अतिशयवादी	संशयवादी	रूपान्तरणवादी
वैश्वीकरण में नवीन क्या है?	एक वैश्विक युग	व्यापार समूहों का निर्माण, पूर्व कालों की तुलना में कमजोर भू-शासन	ऐतिहासिक रूप से वैश्विक अंतः संबद्धता के अभूतपूर्व स्तर
प्रमुख विशेषताएँ	वैश्विक पूंजीवाद, वैश्विक शासन प्रणाली, वैश्विक नागरिक समाज	1890 के दशक की तुलना में विश्व में कम निर्भरता	स्थूल (गहन व व्यापक) वैश्वीकरण
राष्ट्रीय सरकारों की शक्तियाँ	पतन या क्षय	प्रबलित अथवा वृद्धि	पुनर्गठित अथवा पुनःरचित
वैश्वीकरण की संचालक शक्तियाँ	पूंजीवाद तथा टेकनॉलोजी	राज्य तथा बाजार	आधुनिकता की संयुक्त शक्तियाँ
संस्तरण के प्रतिमान	पुराने सौपान क्रम का क्षय	दक्षिण के पार्श्वीकरण में वृद्धि	विश्व व्यवस्था का नया शिल्प
प्रमुख उदाहरण	मैकडोनाल्ड, मेडोना आदि	राष्ट्रीय हित	राजनीतिक समुदाय का रूपान्तरण
वैश्वीकरण का अवधारणीकरण	मानवीय क्रिया के प्रारूप की पुनर्व्यवस्था के रूप में	अंतर्राष्ट्रीयकरण व क्षेत्रीयकरण के रूप में	अन्तर्क्षेत्रीय सम्बन्धों व दूरस्था क्रिया की पुनर्व्यवस्था के रूप में
ऐतिहासिक विक्षेप पथ	वैश्विक सभ्यता	क्षेत्रीय ब्लॉक/सभ्यताओं का संघर्ष	अनिश्चित: वैश्विक एकीकरण तथा विखण्डन
संक्षिप्त वितर्क	राष्ट्र-राज्य का अन्त	अंतर्राष्ट्रीयकरण राज्य की सहमति तथा सहयोग पर निर्भर	वैश्वीकरण राज्य शक्ति व विश्व राजनीति को रूपान्तरित करता है

वैश्वीकरण से संबंधित विवादों के स्रोत

वैश्वीकरण के वर्तमान उपागमों में निम्नलिखित पांच प्रमुख मुद्दों पर विवादों के स्रोत बिन्दु हैं:

1. अवधारणात्मकता (conceptualization)
2. कारणात्मकता (causation)
3. कालखण्डता (periodization)
4. प्रभाव (impact)
5. विक्षेप पथ (trajectories)

1. अवधारणात्मकता:

वैश्वीकरण के अवधारणात्मकता के स्तर पर संशयवादी व अतिशयवादी दोनों ही विद्वानों में वैश्वीकरण को एक पूर्वानुमानित एकमात्र दशा अथवा अन्तिम अवस्था के रूप में देखने की प्रवृत्ति स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती है। वे इसे एक पूर्णरूप से एकीकृत बाजार के रूप में देखते हैं सिमें मूल्य तथा ब्याज-दर की एकरूपता है। तदानुसार, आर्थिक वैश्वीकरण के समकालीन प्रतिमानों का आकलन इस सन्दर्भ में किया जाता है कि वे इसे आदर्श प्रारूप से कितनी एकरूपता रखते हैं (बर्गर व डोरे 1996; हर्स्ट व थाम्पसन 1996बी)। परन्तु इन उपागमों की अपनी अलग त्रुटियाँ भी हैं क्योंकि यह किसी भी प्रकार से पूर्वानुमानित नहीं किया जा सकता कि वैश्विक बाजारों को पूर्णतः प्रतियोगी होने की आवश्यकता है। देखा जाये तो राष्ट्रीय बाजार भी पूर्णतः प्रतियोगी नहीं होते तथा इनमें भी अपूर्णता के कई स्वरूप देखने को मिलते हैं, फिर भी अर्थशास्त्री इन्हें बाजार के रूप में देखते हैं। अतः वैश्विक बाजार भी राष्ट्रीय बाजारों की ही भाँति अपूर्ण व समस्याग्रस्त हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त ये आदर्शवादी उपागम अस्वीकार्य रूप से उद्देश्यवादी व अनुभववादी भी हैं।

अस्वीकार्य रूप से उद्देश्यवादी इस अर्थ में कि ये वर्तमान की व्याख्या एक रेखीय प्रगति की दिशा में भविष्य की किसी अन्तिम अवस्था के रूप में करने का प्रयत्न करते हैं। यद्यपि यह मान लेने का कोई तार्किक अथवा अनुभवात्मक आधार नहीं है कि वैश्वीकरण की कोई एक निश्चित या अन्तिम अवस्था है। अस्वीकार्य रूप से अनुभववादी इस अर्थ में कि वे वैश्विक प्रवृत्तियों से प्राप्त सांख्यिकीय आंकड़ों के आधार पर वैश्वीकरण सिद्धान्त को मानने अथवा अस्वीकार करने की बात करते हैं। यद्यपि इस प्रकार की पद्धति से पर्याप्त समस्याएं उत्पन्न हो सकती हैं। उदाहरण के लिये, इस तथ्य के आधार पर कि विश्व में मातृभाषा के रूप में अंग्रेजी के मुकाबले चीनी भाषा बोलने वालों की अधिक जनसंख्या है, यह स्थापित नहीं किया जा सकता कि चीनी भाषा एक वैश्विक भाषा है। अतः वैश्वीकरण सिद्धान्त को मानने अथवा अस्वीकार करने हेतु सांख्यिकीय आंकड़ों के साथ-साथ गुणात्मक व्याख्या के महत्व पर भी बल दिया जाना चाहिये।

इसकी तुलना में, वैश्वीकरण के सामाजिक-ऐतिहासिक उपागम में इसका एक ऐसी प्रक्रिया के रूप में अध्ययन किया जाता है जिसका कोई निश्चित अथवा निर्धारित ऐतिहासिक 'गन्तव्य' नहीं है; चाहे हम इसे एक पूर्णतः एकीकृत वैश्विक बाजार, एक वैश्विक समाज अथवा एक वैश्विक सभ्यता के रूप में समझे। पहले से ही यह मान लेने का कोई कारण नहीं है कि वैश्वीकरण को विशुद्ध रूप में एक दिशा उद्विकसित होना चाहिये अथवा इसे मात्र एक अलग आदर्शात्मक दशा (विशुद्ध वैश्विक बाजारों) के सन्दर्भ में समझा जाना चाहिये। तदानुसार, इन रूपान्तरणकारी विद्वानों के लिये,

वैश्वीकरण को एक अधिक अनिश्चित व अबाध ऐतिहासिक प्रक्रिया के अर्थ में कल्पित किया जाना चाहिये जो सामाजिक परिवर्तन के रुढ़िवादी रेखीय प्रारूपों में सही नहीं बैठती। इसके साथ ही ये विवरण इस विचार के प्रति भी संशयवादी है कि मात्र गणनात्मक प्रमाणों के आधार पर वैश्वीकरण की 'वास्तविकता' की पुष्टि अथवा खंडन किया जा सकता है।

इसके साथ जुड़ा एक अन्य मुद्दा है कि क्या वैश्वीकरण को एक निश्चित अथवा विभेदीकृत स्वरूप में समझना चाहिये? अधिकतर अतिशयवादी और संशयवादी साहित्य में वैश्वीकरण को प्रमुख रूप से एक निश्चित आर्थिक अथवा सांस्कृतिक प्रक्रिया के अर्थ में निरूपित किया गया है। वैश्वीकरण का इस अर्थ में निरूपण सामाजिक जीवन के विभिन्न पक्षों वैश्वीकरण को (राजनीतिक से सांस्कृतिक तक) में वैश्वीकरण के विशिष्ट प्रतिमानों की उपेक्षा करता है। अतः वैश्वीकरण को एक उच्च विभेदीकृत प्रक्रिया के अर्थ में निरूपित किया जाना अधिक उपयुक्त होगा जिसका परिलक्षण सामाजिक गतिविधियों के सभी महत्वपूर्ण क्षेत्रों (राजनीतिक, मिलिट्री, कानूनी, पर्यावरणीय, अपराध जगत आदि) में होता है।

2. कारणात्मकता

वैश्वीकरण की बहस का एक महत्वपूर्ण पहलू इसकी कारणात्मकता का मुद्दा है: कि इसकी संचालन शक्ति किस कारक में है? वैश्वीकरण की बहस के वर्तमान विवरणों में प्रायः दो अलग-अलग व्याख्याएं सम्मुख आती हैं: एक वे जो एक अथवा प्राथमिक कारक, जैसे पूंजीवाद अथवा तकनीकी परिवर्तन, पर बल देती हैं; तथा दूसरी वो जो वैश्वीकरण को सम्मिलित कारकों का परिणाम मानती हैं जिसमें तकनीकी परिवर्तन, बाजार शक्तियां, वैचारिकी, राजनीतिक निर्णय भी सम्मिलित हैं। सरल अर्थों में विभेद प्रभावी रूप से वैश्वीकरण के एक-कारकीय व बहुकारकीय वृत्तान्तों में है। वैश्वीकरण के किसी भी वृत्तान्त में इस केन्द्रीय प्रश्न का उत्तर स्पष्ट रूप से दिया जाना चाहिये। वैश्वीकरण की कारणात्मकता के विवाद से जुड़ा एक महत्वपूर्ण आधुनिकता समबन्धी बहस है। कुछ विद्वानों के लिये वैश्वीकरण पश्चिमी आधुनिकता (पश्चिमीकरण) का वैश्विक विसरण मात्र है (उदा. विश्व व्यवस्था सिद्धान्त के वृत्तान्त)। इसके विपरीत अन्य विद्वान पश्चिमीकरण व वैश्वीकरण में भेद करते हैं तथा उपरोक्त विचार को अस्वीकार करते हैं। अतः वैश्वीकरण की व्याख्या में इस प्रश्न पर विचार करना आवश्यक है।

3. कालखण्डता

वैश्वीकरण के अध्ययन में यह जानना अति आवश्यक है कि समकालीन वैश्वीकरण क्या पूर्णरूप से एक नया युग है? या यह पूर्णतः विश्वयुद्ध के बाद का कालखण्ड है, 1970 के बाद का कालखण्ड है, अथवा पूरी 20वीं शताब्दी के कालखण्ड को सामान्य रूप से वैश्वीकरण का काल मान लेना चाहिये। विश्व व्यवस्था तथा सभ्यताओं के स्तर पर हुयी अन्तःक्रिया के हाल ही के अध्ययनों से, सामान्य रूप से इस स्वीकृत मत पर कि वैश्वीकरण प्राथमिक रूप से आधुनिक युग की प्रघटना है, प्रश्न खड़े हो गये हैं। विश्व धर्मों तथा मध्य-युगीन व्यापार नेटवर्कों का अस्तित्व इस विचार को अधिक दृढ़ता प्रदान करता है कि वैश्वीकरण एक ऐसी प्रक्रिया है जिसका एक लम्बा इतिहास है। अतः वैश्वीकरण के समकालीन स्वरूप की व्याख्या करते समय आधुनिक युग से भी परे जाने का प्रयास किया जाना चाहिये।

4. प्रभाव

सामाजिक लोकतंत्र व आधुनिक कल्याणकारी राज्य के अन्त में आर्थिक वैश्वीकरण का हाथ होने का संकेत व्यापक साहित्य में दिया गया है। इस मत के अनुसार, वैश्विक प्रतिस्पर्धात्मक दबाव ने सरकारों को राज्य-व्यय तथा हस्तक्षेपों में कटौती करने के लिये बाध्य किया है। विभिन्न पक्षपातपूर्ण वचनबद्धताओं के बावजूद, सभी सरकारों को इस एक दिशा में बाध्य किया गया है। इस सिद्धान्त में वैश्वीकरण को एक 'लोहे के पिंजरे' के रूप में चित्रित करने वाली निर्धारणात्मक अवधारणा निहित है जो सरकारों पर एक वित्तीय अनुशासन थोपती है तथा उन प्रगतिशील नीतियों व सामाजिक सौदेबाजियों की संभावनाओं को क्षीण कर देती हैं जिन पर विश्व-युद्ध के बाद उदित कल्याणकारी राज्य टिके हुए थे। अतः पदस्थ सरकारों की वैचारिकी का विचार किये बिना पश्चिमी राष्ट्रों में आर्थिक व कल्याणकारी व्यूहरचनाओं के झुकाव में स्पष्ट अभिवृद्धि हो रही है।

हाल ही में हुए व्यापक अध्ययनों में इस सिद्धान्त का जोरदार तरीके से विरोध हुआ है तथा इस बात पर संदेह व्यक्त किया गया है कि वैश्वीकरण राष्ट्रीय सरकारों को आर्थिक नीतियों के निर्माण में प्रभावकारी तरीके से स्थिर कर देता है। इन अध्ययनों में इस विषय पर महत्वपूर्ण अंतर्दृष्टि प्रदान की गयी है कि किस प्रकार से व घरेलू संस्थाओं की संरचनाएं, राज्य व्यूहरचनाएं तथा एक देश की वैश्विक बलाधिक्रम में स्थिति वैश्वीकरण के सामाजिक व राजनीतिक प्रभावों के साथ मध्यस्थता कर लेती हैं। अनेकों विद्वानों ने इस विषय पर अपना योगदान दिया है। ऐसा करते हुए ये अध्ययन एक ऐसे परिष्कृत प्ररूप की आवश्यकता पर बल देते हैं जो देखे कि वैश्वीकरण किस प्रकार से राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था व राष्ट्रीय समुदायों को प्रभावित करता है जो इसके उन विभिन्न विशेष प्रभावों तथा स्वरूपों के सांकेतिक महत्व को ज्ञापित करता है, जिनमें इसका प्रबन्धन, प्रतिस्पर्धा एवं विरोध किया जाता है।

5. विक्षेप पथ

वैश्वीकरण के तीनों उपागमों में से प्रत्येक में वैश्विक परिवर्तन की गत्यात्मकता व दिशा को एक विशिष्ट अवधारणा है जो वैश्वीकरण के प्रतिमानों पर एक समग्र आकार निरूपित करती है तथा ऐसा करते समय एक ऐतिहासिक प्रक्रिया के रूप में वे वैश्वीकरण के विशिष्ट स्वरूप को प्रस्तुत करते हैं। अतिशयवादी विद्वान वैश्वीकरण को वैश्विक एकीकरण की धर्मनिरपेक्ष प्रक्रिया के रूप में देखते हैं। उनके लिए यह मानव प्रगति की प्राकृतिक रूप से घटित, रेखीय परिवर्तन ऐतिहासिक प्रक्रिया है। जबकि संशयवादी विद्वान इसका मूल्यांकन पूर्व ऐतिहासिक युगों के परिप्रेक्ष्य में करते हुए 19वीं शताब्दी के अन्तिम दशकों में पायी जाने वाली वैश्विक परस्पर निर्भरता से तुलना करते हैं। ऐतिहासिक परिवर्तन इन दोनों ही प्रारूपों को रूपान्तरणवादी विद्वानों का समर्थन प्राप्त नहीं होता। क्योंकि वे इतिहास को एक ऐसी प्रक्रिया के रूप में देखते हैं जो नाटकीय उतार-चढ़ावों अथवा अनिरन्तरताओं द्वारा बाधित की जाती है। ऐसा दृष्टिकोण इतिहास की आकस्मिकता पर बल देता है और विशेष ऐतिहासिक परिस्थितियों व शक्तियों के संगम से युग परिवर्तन कैसे उत्पन्न होता है। रूपान्तरणवादी वैश्वीकरण की प्रक्रिया को आकस्मिक और अन्तर्विरोधी मानते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार, वैश्वीकरण समाज को विपरीत दिशाओं में खिंचता व धकेलता है; यह एकीकृत करते हुए विखण्डित भी करता है, सहयोग के साथ संघर्ष उत्पन्न करता है, सार्वभौमिक के साथ स्थानीयकरण भी करता है। इस प्रकार से वैश्वीकरण का विक्षेप पथ वृहद रूप से अनिश्चित व अनिर्धारित है।

वैश्वीकरण का नवीन अवधारणात्मक प्रारूप

वैश्वीकरण क्या है? सरल अर्थों में, वैश्वीकरण का तात्पर्य वैश्विक अन्तर्संबद्धता के विस्तारीकरण, गहनीकरण तथा तीव्रीकरण से है। परन्तु इस प्रकार की परिभाषा को और अधिक विस्तार देने की आवश्यकता है।

वैश्वीकरण को स्थानीय, राष्ट्रीय तथा क्षेत्रीय के एक अबाध क्रम (continuum) में अवस्थित किया जा सकता है। इस अबाध क्रम के एक सिरे पर वे सामाजिक व आर्थिक सम्बन्ध तथा नेटवर्क स्थित हैं जो स्थानीय तथा अथवा राष्ट्रीय आधार पर संगठित होते हैं; अबाध क्रम के दूसरे सिरे पर वे सामाजिक व आर्थिक सम्बन्ध तथा नेटवर्क स्थित हैं जो क्षेत्रीय व वैश्विक अन्तःक्रियाओं के व्यापक स्तर पर निश्चित रूप धारण करती हैं। वैश्वीकरण को परिवर्तन की उन स्थानिक-लौकिक (spacio-temporal) प्रक्रियाओं के रूप में संदर्भित किया जा सकता है जो मानवीय संबंधों के संगठन में हो रहे रूपान्तरण को, मानवीय गतिविधियों को क्षेत्रीय व महाद्वीपीय स्तर पर परस्पर जोड़ते व विस्तारित करते हुए, आधार प्रदान करती हैं।

वैश्वीकरण को एक ऐसी प्रक्रिया (प्रक्रियाओं के समुच्चय के रूप में) विचारा जा सकता है जो सामाजिक संबंधों व लेन-देन संव्यवहारों के स्थानिक संगठन को मूर्त रूप प्रदान करता है—जिसका मूल्यांकन उनकी व्यापकता, गहनता, वेग तथा प्रभाव कम रूप में किया जाता है—जिनके द्वारा गतिविधियों, अन्तःक्रियाओं तथा शक्ति प्रयोग के अंतरमहाद्वीपीय अथवा अंतरक्षेत्रीय प्रवाहों तथा नेटवर्कों को उत्पन्न होते हैं (हैल्ड आदि 1999: 16)।

Globalization can be thought of as a process (or set of processes) which embodies a transformation in the spatial organization of social relations and transactions—assessed in terms of their extensity, intensity, velocity and impact—generating transcontinental or interregional flows and networks of activity, interaction, and exercise of power (Held et al. 1999:16).

इस संदर्भ में प्रवाहों का संबंध समय व स्थान के पार भौतिक कलाकृतियों, लोगों, चिन्हों, टोकनों तथा सूचना से है; वहीं नेटवर्क स्वतंत्र कर्ताओं, गतिविधियों की आसंधियों (nodes) अथवा शक्ति के स्थानों के मध्य नियमित अथवा प्रतिमानित अन्तःक्रियाओं से है।

वैश्वीकरण के ऐतिहासिक स्वरूप

वैश्वीकरण के ऐतिहासिक स्वरूप का संबंध पृथक ऐतिहासिक युगों में वैश्विक अन्तर्संबद्धता के स्थानिक-लौकिक व संगठनात्मक लक्षणों से है। वैश्वीकरण के ऐतिहासिक स्वरूपों के विवेचन व तुलना के चार स्थानिक-लौकिक आयाम हैं:

- वैश्विक नेटवर्कों की व्यापकता (the extensity of global networks),
- वैश्विक अन्तर्संबद्धता की गहनता (the intensity of global interconnectedness),
- वैश्विक प्रवाहों का वेग (the velocity of global flows)
- वैश्विक अन्तर्संबद्धता की प्रभाव प्रवृत्ति (the impact propensity of global interconnectedness)

उपरोक्त प्रारूप वैश्वीकरण के गणनात्मक व गुणात्मक मूल्यांकन का आधार प्रदान करता है। स्थानिक-लौकिक आयामों के अतिरिक्त वैश्वीकरण के चार संगठनात्मक आयाम भी हैं। ये हैं:

- वैश्वीकरण की अधिसंरचना (the infrastructure of globalization)

- वैश्विक नेटवर्कों का संस्थापन व शक्ति प्रयोग (the institutionalization of global networks and the exercise of power)
- वैश्विक संस्तरण के प्रतिमान (the pattern of global stratification)
- वैश्विक अन्तःक्रिया के प्रतिमान (the dominant modes of global interaction)

समकालीन वैश्वीकरण के स्वरूप का निर्धारण

उपरोक्त प्रारूप के आधार पर हैल्ड आदि (1999: 21–27) ने वैश्वीकरण का वर्गीकरण निम्न चार श्रेणियों में किया है:

टाइप 1: स्थूल वैश्वीकरण (Thick globalization)

वैश्वीकरण का यह प्रकार एक ऐसे विश्व का प्रतिनिधित्व करता है जिसमें वैश्विक नेटवर्कों की व्यापक पहुंच सामाजिक जीवन के सभी क्षेत्रों अथवा पक्षों— आर्थिक से लेकर सांस्कृतिक तक—में उनकी उच्च गहनता, उच्च वेग तथा उच्च प्रभाव प्रवृत्ति को धारण किये रहती है। इसको स्थूल वैश्वीकरण (Thick globalization) की संज्ञा ही जा सकती है। कुछ संशयवादी विद्वानों के अनुसार, 19वीं शताब्दी के अन्तिम काल खण्ड के वैश्विक साम्राज्य इस श्रेणी के काफी निकट हैं। इस प्रकार स्थितिज तौर पर वैश्वीकरण के अन्य रूप भी हो सकते हैं जिनमें से यह एक है।

टाइप 2: विसरित वैश्वीकरण (Diffused globalization)

वैश्वीकरण का यह प्रकार एक ऐसे विश्व का प्रतिनिधित्व करता है जिसमें वैश्विक नेटवर्कों में उच्च व्यापकता, उच्च गहनता तथा उच्च वेग तो पाया जाता है परन्तु उनमें प्रभाव प्रवृत्ति का स्तर निम्न रहता है। इसको हम विसरित वैश्वीकरण (Diffused globalization) की संज्ञा दे सकते हैं क्योंकि इनमें प्रभावों की उच्च स्तर पर मध्यस्थता व नियन्त्रण किया जाता है। ऐतिहासिक रूप से इस प्रकार के वैश्वीकरण का कोई उदाहरण तो नहीं मिलता परन्तु आदर्श रूप से यह एक ऐसी अवस्था है जो अपरिमित आर्थिक वैश्वीकरण के आलोचकों के लिए अपेक्षित हो सकती है।

टाइप 3: विस्तृत वैश्वीकरण (Expansive globalization)

वैश्वीकरण का यह प्रकार वैश्विक अन्तर्संबद्धता की उच्च व्यापकता को निम्न गहनता, निम्न वेग परन्तु उच्च प्रभाव प्रवृत्ति से जोड़ता है। इसको हम विस्तृत वैश्वीकरण (Expansive globalization) की संज्ञा दे सकते हैं क्योंकि यह अपने प्रवाहों के वेग की अपेक्षा अपनी पहुंच व प्रभाव से अधिक परिभाषित होता है। पश्चिमी राजसी विस्तारवाद का पूर्व आधुनिक काल जिसमें यूरोपियन साम्राज्यों ने पर्याप्त अन्तरसम्बन्धितायी प्रभावों के साथ एक अस्थायी वैश्विक पहुंच बना ली थी, इस श्रेणी के अधिक निकट कहा जा सकता है।

टाइप 4: विरल वैश्वीकरण (Thin globalization)

वैश्वीकरण का यह प्रकार एक ऐसे विश्व का प्रतिनिधित्व करता है जिसे विरल वैश्वीकरण की संज्ञा दी जा सकती है क्योंकि इसमें वैश्विक नेटवर्कों की उच्च व्यापकता, समान स्तर की गहनता, वेग अथवा प्रभाव से संबद्ध नहीं हो पाती क्योंकि इन सभी का स्तर निम्न रहता है। आरम्भिक सिल्क तथा विलासता से संबंधित वस्तुओं के व्यापार का परिपथ (सर्किट) जो यूरोप, चीन और पूर्वी देशों को जोड़ता था, उस श्रेणीक्रम के निकट माना जा सकता है। हैल्ड आदि का मानना है कि उपरोक्त तत्वों के विभिन्न संयोजन से वैश्वीकरण के विभिन्न प्रकार तार्किक रूप से प्राप्त किये जा सकते हैं

परन्तु यह आवश्यक नहीं कि वे ऐतिहासिक अथवा वास्तविक रूप में भी विद्यमान हों परन्तु भविष्य में इनकी संभावना से इन्कार भी नहीं किया जा सकता।

उपसंहार

इस प्रकार से हम देखते हैं कि वैश्वीकरण न तो एक पृथक अवस्था है और न ही एक रेखीय प्रक्रिया। इसके अतिरिक्त, यह एक उच्च स्तरीय विभेदीकृत प्रघटना है जिसमें राजनीतिक, मिलिटी, आर्थिक, सांस्कृतिक, प्रवृजिक तथा पर्यावरणीय जैसी भिन्न गतिविधियों व अन्तःक्रियाओं के क्षेत्र सम्मिलित हैं। इनमें से प्रत्येक क्षेत्र में संबंधों व गतिविधियों के विभिन्न प्रतिमान सम्मिलित हैं। इनको हम 'शक्ति के स्थलों' के रूप में विचार सकते हैं। राजनीतिक, मिलिटी, आर्थिक, सांस्कृतिक, प्रवृजिक तथा पर्यावरणीय के क्षेत्र शक्ति के केन्द्रीय स्थल हैं जिनमें वैश्वीकरण की प्रक्रियाएं घटित हो रही हैं। अतः आवश्यकता इस बात की है कि इन सभी क्षेत्रों का विस्तृत अध्ययन किया जाये। उपरोक्त अवधारणात्मक प्रारूप इस प्रकार के अध्ययनों का भली प्रकार से मार्गदर्शन कर सकता है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

- ओहमे, केनीची, 1991: *द बार्डरलेस वर्ल्ड*, न्यूयार्क: हार्पर कोलिंस
 बैक, उलरिक, 1997: *वॉज इट ग्लोबलाइजर्स ?* फैंकफर्ट: सूहकैम्प
 रीच, राबर्ट बी., 1991: *द वर्क ऑफ नेशंस*, लंदन: सिमोन एण्ड सूटार।
 मार्टिन, हंस पीटर एवं हैराल्ड शूमैन, 1997: *द ग्लोबल ट्रेण्ड: ग्लोबलाइजेशन एण्ड द असाल्ट ऑन प्रोसपेरिटी एण्ड डेमोक्रेसी*, न्यूयार्क: जेड बुक्स एण्ड प्लूटो प्रेस आस्ट्रेलिया।
 वाइजमैन, जॉन 1997: *अल्टरनेटिव्स टू ग्लोबलाइजेशन: एन एशिया पेसिफिक पर्सपेक्टिव*, मेलबोर्न: कम्प्यूनिटी एड अब्रोड।
 वीज़, लिंडा, 1997: *ग्लोबलाइजेशन एण्ड द मिथ ऑफ द पावरलैस स्टेट*, न्यू लेफ्ट रिव्यू, 225:3-7।
 सिंह, वी.पी., 2004: "ग्लोबलाइजेशन, न्यू मीडिया टैक्नॉलाजी, एण्ड सोशियो कल्चरल चेंजिज इन इंडिया", *इमर्जिंग ट्रेण्ड्स इन डेवलपमेंट रिसर्च*, वोल्यू. 10, नं. 1-2, पृ. 3-9।
 सिंह, वी.पी., 2007: "ग्लोबलाइजेशन एण्ड सोशल स्ट्रेटिफिकेशन इन इंडिया", *इमर्जिंग ट्रेण्ड्स इन डेवलपमेंट रिसर्च*, वोल्यू. 13, नं. 1-2, पृ. 1-8।
 हेल्ड, डेविड, मैकग्रयु, ए., गोल्ड ब्लेट., डेविड तथा पेरेटन जे. 1999: *ग्लोबल ट्रांसफॉर्मेशंस- पालिटिक्स, इकोनोमिक्स एण्ड कल्चर*, केम्ब्रिज: पालिटी प्रेस।
 शनेपर, डोमीनिकी, 1994: *ला कम्प्यूनाट डेस सिटोयेंस*: पैरिस: गलीमार्ड।
 होपकिन्स, टेरेंस के., एवं इमैनुअल वालेरस्टीन, 1996: *द ऐज ऑफ ट्रांजिसन: ट्रेजेक्टरी ऑफ वर्ल्ड सिस्टम, 1945-2025*, लंदन: जेड बुक्स।
 हर्स्ट, पॉल, एव ग्राहम थाम्पसन, 1996: *ग्लोबलाइजेशन इन क्वेश्चन*, कैम्ब्रिज: पोलिटी।

फॉर्म 'बी'

सम्पादक का नाम, राष्ट्रीयता व पता	: प्रो. वीरेन्द्र पाल सिंह भारतीय 18, बैंक रोड, इलाहाबाद, 211 002
प्रकाशक का नाम, राष्ट्रीयता व पता	: प्रो. वीरेन्द्र पाल सिंह भारतीय 18, बैंक रोड, इलाहाबाद, 211 002
अवधि	: छःमाही
प्रकाशन का स्थान व पता	: इलाहाबाद-18, बैंक रोड, इलाहाबाद, 211 002
स्वामी का नाम, राष्ट्रीयता व पता	: प्रो. वीरेन्द्र पाल सिंह भारतीय 18, बैंक रोड, इलाहाबाद, 211 002
लेजर टाइप सैटिंग	: ई.टी.डी.आर. कम्प्यूटर्स सी-28, पल्लवनुरम, फेस प्रथम, मेरठ-250110
मुद्रक का नाम व पता	: साहिल प्रिंट मीडिया, 256, मोहन पुरी, मेरठ